प्रवचन-प्रभा

(प्रथम तथा द्वितीय भाग संयुक्त)

साध्वी मणिप्रभाश्री

श्री खरतरगच्छीय ज्ञान मन्दिर, जयपुर

प्रवचन-प्रभा/साध्वी मणिप्रभाश्री

इन्दौर-चातुर्मास १९८१, १९८२ मे हुए
बारह चुने हुए प्रवचन तथा प्रवचनाश

प्रकाशन

श्री विचक्षण प्रकाशन,
नईदुनिया परिसर,
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग
इन्दौर-४५२ ००९, मध्यप्रदेश

प्राप्ति-स्थान

१ श्री विचक्षण प्रकाशन, इन्दौर
२ श्री प्रेम डूंगरवाल,
'इन्डो आक्सीजन', कल्याण विश्रान्ति गृह,
२, साउथ तुकोगज,
इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश

प्रथम संस्करण–४२००

द्वितीय सस्करण–३१००

तृतीय सस्करण–५१००
जुलाई १९८३

मूल्य पाच रुपये

मुद्रण :
नईदुनिया प्रिण्टरी,
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर-४५२ ००९, मध्यप्रदेश

Pravachan Prabha
Sadhvi Maniprabhashri,
Religion-1983

परमपूज्या, श्रद्धास्पदा, परमतपस्विनी, विदुषी-श्रेष्ठा,
प्रधान-पद विभूषिता श्री अविचलश्रीजी महाराज के
कर-कमलों में

—मणिप्रभा ॥

दो शब्द

जैनधर्म से सम्बन्धित साहित्य के प्रकाशन में डॉ. नेमीचन्द का योग स्मरणीय रहेगा। तीर्थंकर मासिक का प्रकाशन अपने आप में एक साधना है, जो नियमित रूप में धर्म और परम्परा को व्यापक बनाने का सद्प्रयास माना जाएगा। मासिक के अतिरिक्त भी उन्होंने जैनधर्म से सम्बन्धित विषयों पर महत्त्वपूर्ण निबंध पुस्तकें प्रकाशित की हैं। इसी पुण्य प्रयास में मेरे पाँच प्रवचन तथा मेरी गुरु प्रातःस्मरणीया श्री विचक्षणश्रीजी म. की सूक्तियों का यह संकलन अच्छे रूप में धर्मप्रेमी लोगों के सामने रखा है। मैं स्वयं अपने प्रवचनों के बारे में क्या लिखूँ? जो भाई-बहन दूरी के कारण नहीं आ सके हैं उनके लिए यह लघुचयनिका सहायक होगी। स्व. गुरुवर्याश्री का प्रत्येक वाक्य एक सूक्ति का रूप रखता था। इन लघु पंक्तियों में इतना गंभीर अनुभव तथा चिन्तन भरा है कि हम घण्टों उन पर मनन कर सकते हैं। इन सूक्तियों के साथ मेरे प्रवचनों का प्रकाशन ऐसी तरह है जैसे सच्चे हीरों के साथ काँच के कुछ टुकड़े रख दिये गये हों। (प्रथम/द्वितीय संस्करण प्रथम भाग)

○○

गत वर्ष इसी शीर्षक से प्रवचनों का प्रथम संकलन प्रकाशित हुआ था, जिसे जैन जैनेतर सभी लोगों ने रुचिपूर्वक पढ़ा और जीवन के लिए उपयोगी पाया। इससे यह भी अनुभव हुआ कि लोकजीवन में सत्साहित्य और सत्संग के लिए अनुभव प्यास और उल्लेखनीय बहुमान है। वह अपने विचारों को आध्यात्मिक संस्पर्श देना चाहता है।

मुझे विश्वास है ये विचार जन-जीवन को अपने जीवन लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता करेंगे और हिंसा, परिग्रह तथा स्वार्थांधता के इस युग में भी प्राणिमात्र के प्रति उनके मन में एक शुभाकांक्षा को जन्म देंगे।

प्रस्तुत प्रवचनों में जो विनम्र चिन्तन है वह मेरी परमपूज्या स्व. गुरुवर्याश्री की प्रेरणा का ही सुफल है। वे मेरे बोले हुए शब्द-वाक्य की पृष्ठभूमि पर शुभाशीष की स्वस्तिप्रद मुद्रा में प्रतिक्षण उपस्थित रही हैं। मुझे आशा है इनमें से उन्हें भी पाया जा सकेगा क्योंकि विचार-रूप में वे आज हैं, कल थीं, कल रहेंगी, स्पष्ट विचार मृत्युंजय है, उनका कभी देहान्त नहीं होता, वह हर हालत में अजर-अमर है।

प्रवचनों को संकलित करने में साध्वी श्री विद्युतप्रभाश्रीजी एवं साध्वी हेमप्रज्ञाश्रीजी ने तथा व्यवस्थित करने में तीर्थंकर के संपादक डॉ. नेमीचन्दजी जैन ने नमनीय श्रम किया है।

आशा है पाठक इससे लाभान्वित होंगे। मेरी शुभकामना प्रतिपल उनके साथ है। (प्रथम/द्वितीय संस्करण द्वितीय भाग दीपावली १९८२)

—मणिप्रभाश्री

संपादकीय

'प्रवचन-प्रभा' साध्वीश्री मणिप्रभाजी के इन्दौर-चातुर्मास की एक जनोपयोगी फलश्रुति है। इसमे साध्वीश्री के पॉच चुने हुए प्रवचन सकलित है। प्रवचनो के प्रतिपाद्य को कुछ इस तरह सयोजित करने का प्रयत्न किया गया है कि पाठक को अनायास ही एक सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि मिल सके। प्रथम प्रवचन 'सस्कार का प्रश्न' है। सव जानते है कि इन दिनो सस्कार की समस्या कितनी पेचीदा है। पूर्व-पश्चिम के जीवन-मूल्य लगभग अपनी अन्तिम लडाई पर है, इसीलिए हमारी वर्तमान और आगामी पीढी के सस्कार कैसे हो, इस विषय पर साध्वीश्री के साफ-सुथरे, लोकोपयोगी विचार वहुत महत्त्व के है। द्वितीय प्रवचन का सम्वन्ध श्रावक की भूमिका से है। ज्वलन्त प्रश्न है कि इन दिनो जव कि उसके चारो ओर पार्थिव उलझनो का जाल विछा हुआ है वह इनसे कैसे निपटे, स्वय को किस तरह से समायोजित करे? इस प्रवचन मे भी साध्वीश्री ने एक औसत गृहस्थ को समीचीन दिशा-दृष्टि प्रदान की है।

तीसरे प्रवचन मे हमारे सुनने/मनन करने/सोचने की प्रक्रिया की रचनात्मक समीक्षा है और हमारी भागमभाग की इस जिन्दगी मे उसका क्या स्वरूप हो इस पर आत्मदृष्टि-सम्पन्न प्रकाश डाला गया है। चौथे मे आत्मदृष्टि-जैसे गहन विषय को विचार के पटल पर लिया गया है। हम कई-कई झूठे तर्क देते है, किन्तु स्वय को कभी नही खोजते। इस प्रवचन मे वाग्मी साध्वीश्री ने हमारी ऑखो को ऑजा है और उन्हे भीतर के ऑगन मे खोल दिया है। पॉचवे प्रवचन की विषय-वस्तु आपोआप विगत चार प्रवचनो का साराश वन गयी है। हमे विश्वास है इन्हे ध्यान से पढा जाएगा और इनमे जीवन को, जो वहुत अस्वच्छ/अशुभ्र हो गया है, स्वच्छ/शुभ्र वनाने का प्रयत्न किया जाएगा।

हम कृतज्ञ है पूज्या साध्वीश्री के, जिन्होने इन्दौर की जिज्ञासु जनता को अपने प्राजल/प्रेरक विचारो से उपकृत किया है, और साधुवाद देते है भाईश्री माणकचन्दजी डूगरवाल को जिन्होने इन प्रवचनो को इस रूप मे उपलब्ध कराया है। नईदुनिया प्रिटरी के श्री हीरालालजी/श्री अजय छजलानी के भी हम आभारी है, जिन्होने वहुत कम समय मे इतनी अच्छी किताव छाप कर हमे दी है।

(प्रथम/द्वितीय सस्करण, प्रथम भाग, १८ मार्च, १९८२)

'प्रवचन प्रभा' का द्वितीय भाग प्रथम भाग का सातत्य है प्रत्यक्ष मे, परोक्ष मे। प्रत्यक्षतः इस दृष्टि से कि यह प्रथम भाग के बाद तथा इन्दौर चातुर्मास १९८१ की निरन्तरता मे प्रकाशित हो रहा है और परोक्षतः इस अर्थ मे कि इसमे जिन विषयो पर साध्वीश्री ने अपने विचार व्यक्त किये हैं, वे उत्तरोत्तर अधिक आध्यात्मिक और अन्तर्मुख होते गये है। 'प्रवचन प्रभा २' मे सकलित प्रवचनो की विषय-वस्तु क्रमशः व्यक्ति का मनोमथन करती है और उसे सहज ही आत्मा की अनन्त शक्तियो की ओर ले जाती है। वस्तुतः चुम्बक की तरह का कोई आकर्षण साध्वीश्री की वाणी मे है, जो श्रोता को अन्दर मे जगाता है और बाहर से समेटता है आत्मोत्थान के लिए एक स्वस्थ वायु-मण्डल की रचना करता है और लोकहित की धरती पर उसे आत्मोदय के लिए तत्पर करता है। ये प्रवचन श्रोता को (अब पाठक को) आहिस्ता-आहिस्ता एक रचनात्मक चिंतन की ओर ले जाते हैं और जीवन के यथार्थ को बहुत बोधगम्य रूप मे प्रतिपादित करते हैं। जिन बातो/तथ्यो को हम लगातार अपने हित मे मानते आ रहे हैं वे किस तरह हमारे आत्मिक विकास के आडे आते हैं, इसका स्पष्ट सूचन इन प्रवचनो मे हुआ है। इनमे साध्वीश्री की वाणी-बदली पूरी ताकत से बरस गयी है अब यह श्रोता/पाठक की मन धरती पर निर्भर करेगा कि वह कितना भीगती है और कितनी उर्वरा बनती है। मेघ-नीर ईख-नीम दोनो मे गिरता है किन्तु एक मे वह मीठा और दूसरे मे कडुआ हो जाता है। वही इन प्रवचनो मे है। वाणी-वर्षा तो हुई है, किन्तु जिसकी जितनी पात्रता और भव्यता रही है उतना वह भावित/प्रभावित हुआ है।

साध्वीश्री की स्वच्छ निश्छल, निर्लिप्त मर्मस्पर्शिनी शैली है, जो पाठक को स्वस्थ चिन्तन के लिए जगाती है और उसके हृदय पर एक स्थायी प्रभाव अंकित करती है। भाषा और दृष्टान्त इतने सरल सुबोध हैं कि इन्हें समझने मे पाठक के चित्त पर अलग से कोई दबाव नही पडता। भाषा सरल शैली सरल विचार सरल— मन रतन और हम कदर सरल हैं कि जीवन का गरल आपोआप धुल रह गया है और मृत्यु मे अमृतत्व तथा तम मे ज्योति का सहज ही सूत्रपात हुआ है।

स्मरणीय है कि साध्वीश्री मणिप्रभाश्री खरतरगच्छ परम्परा के परम पूज्य श्रीजिन उदयसागर सूरीश्वरजी महाराज तथा परमपूज्य श्रीजिन कान्तिसागर सूरीश्वर जी महाराज के अनुशासन मे पुण्यमूर्ति श्रीपुण्यश्रीजी महाराज के समुदाय मे ममतामूर्ति स्व श्री विचक्षणश्रीजी महाराज की शिष्या हैं जो अपनी अद्भुत वाग्मिता से जन दर्शन का जन-जन तक पहुंचाने का परम पुरुषार्थ कर रही हैं। प्रस्तुत प्रवचन-सकल्प उनकी इसी प्रयत्न शृंखला की महत्वपूर्ण कडी है।

इस सकलन में ७ प्रवचन तथा कतिपय प्रवचनाश समाविष्ट हैं। प्रथम प्रवचन है शरीर मे शरीर से परे जो व्यक्ति को शरीर-स्तर पर जान की मीमांसा का

स्पष्ट करता है और आत्मा के स्तर पर आनन्द का जो अतल सिन्धु लहरा रहा है उस ओर सहज संकेत करता है, दूसरा प्रवचन 'जिन्दगी एक मुसाफिरखाना' अपने-आप मे काफी स्पष्ट है। इस जग मे सब कुछ कितना क्षणभंगुर है, उम्र अजलि के जल की तरह किस तेजी से चुक रही है, आदि तथ्यो को पूरे बल के साथ प्रतिपादित करता है, तीसरा प्रवचन 'आत्मा नही बदलती', जैन तत्त्व-दर्शन को सरल शब्दो मे समझाता है। द्रव्य/पर्याय का जो दर्शन है, उसे नाना उदाहरणो मे संजो कर साध्वीश्री ने श्रोताओ को जैन दर्शन की गूढताओ और जटिलताओ को आसान/सुबोध स्वल्प शब्दो मे दिया है, चौथे प्रवचन मे 'धर्मलाभ' के परम्परित अर्थ को नवार्थ की ऊँचाई दे कर उन्होंने मन्त्रमुग्ध किया है, पाँचवे प्रवचन मे, जो 'जययात्रा' के शीर्षक से सपादित है, उन्होने हमे आत्मानुशासन की ओर उन्मुख किया है, छठा प्रवचन हमे शब्द-सयम की ओर आकर्षित करता है। 'तोले, फिर बोलें' की विषय-वस्तु है हमे कितना नपातुला/निष्कपट/सुमित बोलना चाहिये, सातवाँ प्रवचन हमे सीधे 'स्वरूप' की ओर ले जाता है। यही, असल मे, हमारी अन्तिम मजिल है, यानी हम शरीर से उठ कर स्व-रूप तक इन प्रवचनो मे अपनी 'जययात्रा' सपन्न कर सकते है। चुने हुए प्रवचनाश प्रभावी है और हमे किश्तो मे आध्यात्मिक जीवन की निर्मलताओ को पूर्णतया सौंपते है।

जहाँ तक इन प्रवचनो के सपादन/व्यवस्थापन का प्रश्न है, मैंने इन्हे मात्र श्रव्य से पाठ्य बनाया है, इस प्रक्रिया के अतिरिक्त जो भी है वह सब साध्वीजी का है, कहूँ, मै मात्र निमित्त हूँ, वे आत्मा और अस्थि-सस्थान दोनो है।

आशा है इन्हे 'प्रवचन-प्रभा-१' के प्रवचनो की तरह ही पूरे उल्लास से पढा जाएगा तथा उससे आध्यात्मिक प्रेरणा प्राप्त की जाएगी।

(प्रथम/द्वितीय सस्करण, द्वितीय भाग, दीपावली १९८२)

यह 'प्रवचन-प्रभा' का सयुक्त सस्करण है, जिसे साध्वी श्री मणिप्रभाश्रीजी के बालाघाट-चातुर्मास-प्रवेश की मगल वेला मे प्रकाशित किया जा रहा है। 'प्रवचन-प्रभा' के प्रथम/द्वितीय खण्डो की बहुत कम समय मे हजारो प्रतियाँ खपी है, जो इस तथ्य की प्रतीक है कि लोगो मे आत्मानुसधान और आत्मालोचन की वृत्ति तो है, किन्तु उनका कोई सुयोग्य मार्गदर्शक नही है। साध्वीश्री के ये प्रवचन जिन्दगी के तमाम अँधेरो मे मशाल ले कर चलने का अपूर्व सामर्थ्य रखते है। इन्हे जैन-जैनेतर समाज ने बडी उत्कण्ठा के साथ पढा/समझा/सराहा है। इस सबसे ऐसा लगता है कि विचार का न तो कोई सप्रदाय होता है, न कोई वर्ग, विचार-तो-विचार-होता-है, प्रतिक्षण, सर्वोपरि। हमे विश्वास है प्रस्तुत सस्करण, जिसे बिलकुल त्रुटि-रहित बना दिया गया है, अधिकाधिक पढा जाएगा। इस आवृत्ति मे कतिपय

उपयोगी और मुद्रण परिवर्तन भी कर दिये गये हैं। आवरण बदल दिया गया है। इस बार इसे सतीश जड़िया ने तैयार किया है। यह प्रतीकात्मक है। प्रवचन-पाठ है, जिसके पृष्ठभाग में आभामण्डल है, आगे टवर्णी है, जो आगम का प्रतीक है। साधु को आगम-चक्षु कहा गया है, क्या कहा गया है यह सिद्ध होता है इन प्रवचनों के रसास्वादन में। मणिप्रभाश्रीजी प्रवचन-पाठ पर विराजमान हैं किन्तु वे शायद वहाँ दिखायी नहीं दे रही हैं, वैसा संभव भी नहीं है, क्योंकि वे पीठासीन होकर भी पीठासीन कहाँ रह पाती हैं? बैठ जाती हैं जब वे श्रोताओं के हृदय सिंहासन पर। इस तरह उनकी प्रवचन-सभाओं में प्रवचन-पाठ-से श्रोता के हृदय-तक भक्ति का जो सेतु बन जाता है आवरण की सबसे सुखद अभिव्यक्ति वही है। पूरी प्रवचन-अवधि में हम स्पष्टतः महसूस करते हैं कि साध्वी मणिप्रभा श्रीजी हमें निरन्तर प्रभा-मणियों से अभिमण्डित करती हैं और रचनात्मक उत्थान की नयी प्रेरणा देती हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत संस्करण विगत संस्करणों की अपेक्षा अधिक पढ़ा जाएगा, तथा इसकी पगडंडी पर जल्दी ही बालाघाट चातुर्मास के प्रवचनों का कोई अभिनव संकलन हमारे समक्ष आयेगा। हम सब साध्वी श्री के प्रति गहन कृतज्ञता का अनुभव करते हैं कि इस संक्षिप्त जीवन में भी वे हमें/हमारे जीवन को एक विशुद्ध/सार्थक आध्यात्मिक उठान दे रही हैं। (संयुक्त संस्करण जुलाई १९८३)।

—नेमीचन्द जैन
संपादक तीर्थंकर इन्दौर

७ जुलाई १९८३

क्रम

विचक्षण-सूक्तियाँ

१ कुएँ के पानी को चाहे लोटे में भरो, तपेले में भरो या चड़स में भरो पानी के रूप में कोई फर्क नहीं आयेगा। सभी भिन्न भिन्न भाजनों से निकलने वाला जल एक रूप, रंग और स्वाद का होगा। हमारा हृदय भी कुएँ के समान है। भाषा लेखन आदि साधन हैं। यदि हमारे हृदय में विशालता है, प्रेम है, रस है तो हमारी वाणी, हमारी लेखनी, और हमारी भाषा रसीली होगी। परन्तु अगर हृदय में कटुता है, संकीर्णता है, तिरस्कार का भाव है तो हमारी वाणी में, हमारी भाषा में, हमारे व्यवहार में भी वही कटुता, संकीर्णता और तिरस्कार की भावना झलकेगी।

२ मुर्दा कौम मत बनो, जिन्दा कौम बनो और देश, समाज, राष्ट्र तथा धर्म की सेवा करो। एकता के सूत्र में बँध जाओ। फूट फजीते की बदबू दूर करो, और संकुचित साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का त्याग कर सबको भाई भाई समझो।

३ जिसके जीवन में दया नहीं, विनय नहीं, त्याग भावना नहीं, परोपकार की भावना नहीं, संयम नहीं, ब्रह्मचर्य नहीं, वह करोड़पति होते हुए भी महा दरिद्र है।

४ आप यदि वास्तविक सुख चाहते हैं, शाश्वत सुख चाहते हैं तो उसे बाहर नहीं भीतर खोजिये। सच्चा सुख भोग में नहीं त्याग में है, पुद्गल में नहीं आत्मा में है, कर्म में नहीं धर्म में है।

५ देश के नवनिर्माण की इस पवित्र वेला में सफेद-झक कपड़े पहनने वालों के स्थान पर मिट्टी-से सने हाथ वालों की ज्यादा प्रतिष्ठा है, ज्यादा सम्मान है। आप श्रम से शर्माये नहीं बल्कि उसे पुरुषोचित आभूषण समझकर धारण करें।

६ एक एक श्वास का मूल्य समझ कर उसका सदुपयोग करो।

७ वस्तु में भेद नहीं है दृष्टि में भेद है, इस पर गंभीरता से विचार करना मानव-मात्र का कर्तव्य है।

८ हिंसा का संकल्प करना ही भावहिंसा है। भावहिंसा से दूसरों की हिंसा हो या न हो अपना स्वयं का हनन तो हो ही जाता है। जैसे दियासलाई रगड़ खा कर स्वयं जल जाती है फिर भले ही वह दूसरे को जलाये या नहीं।

९ जिसका भोजन बाह्य रूप में सात्त्विक होता है उसका अन्तरंग पौष्टिक, सरस और स्वास्थ्यवर्द्धक होता है, आत्मकल्याणी होता है।

१० दूसरों की सेवा करना, गरीबों का दुख दूर करना, तड़पते हुओं के आँसू पोंछना अहिंसा का दूसरा पहलू है।

११ जीवन के कटु क्षणो को 'सहना' सीखो, 'कहना' नहीं।

१२ अहिंसा, सयम और तप को ही धर्म समझना चाहिये। इस कसौटी पर खरा उतरे वही श्रेष्ठ धर्म है।

१३ समाज की सेवा करना, मानव की सेवा करना अहिंसा देवी के चरणो की पूजा करना है।

१४ जीवन को पवित्र करने के लिए अहिंसा गगा के समान है, इसमें स्नान करने से मनुष्य मानवता की पूर्णता को प्राप्त करता है।

१५ विचारो की अहिंसा का नाम अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद वह शस्त्र है, जिसके द्वारा हम आपसी कलह, साम्प्रदायिक द्वेष और क्लेश को मिटा कर प्रेम और सद्भावना की नदी बहा सकते है।

१६ जो दुर्गति की ओर ले जाए वही अपना दुश्मन है, जो उससे बचाये और सही दिशा-निर्देश दे वही अपना मित्र है।

१७ श्रेष्ठ धर्म की खोज के चक्कर मे न पड कर आप अपने जीवन को अहिंसामय, सयममय बनाने की कोशिश करे।

१८ अहिंसा, सयम और तप को एक शब्द मे समझना चाहे तो वह शब्द होगा—'त्याग', क्योकि हिंसा के त्याग को अहिंसा, इन्द्रियासक्ति के त्याग को सयम और तृष्णा के त्याग को तप कहते है।

१९ जब बरसात के दिनो मे नदी पूर आती है तब वह किनारे का सारा कूडा-करकट बहा कर ले जाती है। हमारे अन्दर भी स्नेह की धारा सूख गयी है, जिससे हममे निन्दा का, आलोचना का, द्वेष का, घृणा का, एक-दूसरे को पराया समझने का कचरा इकट्ठा हो गया है। आप प्रेम की ऐसी गगा बहायेगे तो यह सब कचरा धुल जाएगा।

२० मानव-देह का लाभ उठा कर हम अपने जीवन की भूले सुधारे, शूल निकाले; और जो कॉंटे हमसे बिछ गये है, उन्हे चुन-चुन कर अलग कर दे, और जीवन मे परोपकार की सुगध प्रवाहित कर दे।

२१ जिस प्रकार पीतल के पात्रो को यदि प्रति दिन स्वच्छ नही किया जाए तो वे अपनी चमक खो बैठते है, उसी प्रकार यदि साधक नित्य साधना नही करे तो उसका हृदय अपवित्र हुए बिना नही रहेगा।

२२ पुरुषार्थ मद होता है, वहाँ सफलता भी मद होती है। स्वाध्याय करते रहना आत्मशत्रुओ को खदेडते रहना है।

२३ हमारा यह शरीर सोने के पात्र के समान है इसमें विलासिता की मदिरा भरने के स्थान पर सेवा का सद्विचार का अमृत भर दो।

२४ अगर बाहरी विश्राम करना है तो चिन्ता का बोझ नीचे उतारो और आत्मिक विश्राम करना है तो कर्मों का बोझ नाशो।

२५ इस जिन्दगी का कोई भरोसा नहीं है न मालूम यह चिराग कब गुल हो जाए, यह सफर न जाने कब खत्म हो जाए? यह धन-दौलत, यह महल यह भोग विलास के सारे साधन यहीं रह जाएँगे, खाली हाथ आये थे और खाली हाथ जाएंगे। इसलिए जितनी भी भलाई कर सकते हो, करो, कषायों को जितना पतला कर सकते हो, करो राग-द्वेष जितना त्याग सकते हो त्यागो जिससे भविष्य अन्धकारमय न हो।

२६ नौका जल में रहते हुए पार कर सकती है परन्तु नौका में जल आते ही उसकी पार करने की क्षमता नष्ट हो जाती है, इसलिए सावधान रहना चाहिये कि कहीं नौका में जल न आने पाये। इसी प्रकार साधक संसार में भले ही रहे किन्तु संसार की माया मोह साधक के मन में नहीं रहना चाहिये।

२७ जिन शासन तो तप का अक्षय कोष है इसमें तप के बिना कोई कार्य नहीं होता।

२८ संकट महापुरुषों के जीवन में आते हैं कायरों के नहीं। देखो न, ग्रहण सूर्य और चन्द्र को ही लगता है, तारों को नहीं।

२९ जो मनुष्य कर्तव्य का ध्यान रखता है वह कभी च्युत नहीं होगा और जो सत्ता का ध्यान रखेगा वह कर्तव्य से च्युत हो जाएगा इसलिए सत्ता की अपेक्षा कर्तव्य का ध्यान रखो।

३० धर्म समता के साथ ही सुशोभित होता है, ममता के साथ नहीं। समता धर्म को शुद्ध बनाये रखती है पर ममता उसे अशुद्ध बना देती है।

३१ अपने पराये का भेद ममता का परिणाम है। समझदार व्यक्ति जानता है कि पात्र भेद होने पर भी पानी में भेद नहीं है। पानी सोने चांदी के कलश में भरा हो तो क्या और मिट्टी के घड़े में भरा हो तो क्या! पानी पानी समान है।

३२ अहिंसा संयम और तप अथवा त्याग रूप जो धर्म है, वह किसी व्यक्ति विशेष की बपौती नहीं है। धर्म पर सब का समान अधिकार है।

३३ सुख का निवास शान्ति में है—शान्ति का निवास समता में, इसलिए धर्मात्मा बनना हो तो ममता छोड़िये, समता अपनाइये और अपना जीवन मंगलमय बनाइये।

३४ जो व्यक्ति धर्म मे, नीति मे, त्याग मे, तप मे, मानव-मर्यादाओ मे सदा स्थिर रहता है, मजबूत रहता है, सकटकाल मे भी विचलित नही होता है, अनीति के मार्ग मे कदम नही भरता है, उस व्यक्ति के चरणो मे देवता भी नमन करते ह ।

३५ हम सब एक है, हम सब सर्वधर्म-समन्वय का पाठ पढे और दूसरो को पढाये । क्यो जैन-वैष्णव द्वेष करे, क्यो हिन्दू-मुस्लिम द्वेष करे क्यो खतरगच्छ वाले द्वेष करे, क्यो मन्दिर-स्थानक वाले द्वेष करे, क्यो श्वेताम्बर-दिगम्बर मे द्वेष हो और क्यो मानव-मानव मे द्वेष हो ? नही-नही, यह जीवन, यह मानव-जीवन द्वेष करने के लिए नही है ।

३६ सच्चा मानव वही है जो ससार के कड़वे-मीठे अनुभव होने पर भी कर्तव्य-रूपी सुगध को चारो तरफ फैलाता है ।

३७ जिस मानव को अपने कर्तव्य का ज्ञान नही है, वह जीते-जी मृतक के समान है । राष्ट्र-पिता गांधीजी का जीवन हमे कर्तव्य-पालन की बेजोड शिक्षा देता है ।

३८ पुरुषार्थ करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है । जो पुरुषार्थ नही करता, वह पुरुष कहलाने योग्य नही है ।

३९ समय को पहिचान कर दूसरो से सबक ले कर जो चेत जाता है, वही चतुर है ।

४० मेहमान कितने भी शानदार मकान मे ठहरे, उसकी उस मकान के प्रति आसक्ति नही होगी, क्योकि वह समझता रहता है कि मै यहाँ कुछ दिनो के लिए ही ठहरने वाला हूँ—आगे या पीछे मुझे यह स्थान छोडना ही पडेगा । ठीक इसी प्रकार हमे भी सोचना चाहिए कि हम इस दुनिया मे एक मेहमान की भाँति आये है और मेहमान की तरह ही इसे छोड जाने वाले है, जाना न चाहे तो भी हमे जाना पडेगा ।

४१ अच्छा मेहमान कौन है ? वही, जो अपने मेजबान को तकलीफ न दे । ठीक यही गुण हमे भी अपने जीवन मे उतारना चाहिये । हम भी दुनिया के किसी प्राणी को कोई कष्ट न दे, और इस तरह दुनिया के एक अच्छे मेहमान बनने की कोशिश करे ।

४२ विषय-मिश्रित प्रेम अशुद्ध है और विषय-रहित प्रेम शुद्ध है, क्योकि इसका सीधा सम्बन्ध प्रभु से होता है ।

८३ जो मनुष्य चर्म चक्षुओं से देखता है, ज्ञानी उसे अंधा कहते हैं। सच्चा दृष्टा वही होता है जो आत्मारूपी चक्षु से देखता है। यही ज्ञानदृष्टि आत्म कल्याण करने वाली होती है।

८४ आत्मा के भूषण हैं – ज्ञान और स्वाध्याय। ज्ञान और स्वाध्याय के आभूषणों से आत्मा को अलंकृत करने में ही वास्तविक शोभा है।

८५ हम अपने जीवन के विकास का एक लक्ष्य बना लें और उस मंजिल तक पहुँचने के लिए निरन्तर प्रयास करते जाएँ। असफलता से कभी नहीं घबरायें। असफलता ही सफलता की भुजा है।

८६ साधक का लक्ष्य होता है कार्य की सिद्धि परम ज्योति में विलीन होना परमात्मा बनना। साधक चाहे हिन्दू हो या मुस्लिम जैन हो या वैष्णव लक्ष्य सब का एक है–ईश्वर बनना नारायण बनना खुदा को पा लेना। इस लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग अनेक हो सकते हैं साधन अनेक हो सकते हैं। साधक अपनी आत्मशक्ति और स्वभाव के अनुसार मार्ग और साधन चुनता है और कोई जल्दी और कोई देर से लक्ष्य तक पहुँचता है।

८७ अपनी आत्मा को उज्ज्वल करके मनुष्य मोक्ष तक जा सकता है।

८८ शरीर नश्वर है अनित्य है और आत्मा अनश्वर है नित्य है। क्षण भंगुर शरीर को क्षण भंगुर मानना सम्यक्त्व है। आत्मा को शाश्वत मानना भी सम्यक्त्व है। इससे विपरीत मानना मिथ्यात्व है।

८९ पहनने का वस्त्र यदि मैला हो जाए तो आप लोग क्या करते हैं? साबुन और जल से धो कर उसे स्वच्छ बना लेते हैं। भेदविज्ञान भी एक ऐसा ही साबुन है समतारूपी जल के साथ आध्यात्मिक शुद्धि में उपयोगी बनता है।

९० आत्मा को यदि देह के निज सेठ मान लिया जाए तो शरीर को मुनीम मानना पड़ेगा। यदि मुनीम की गलती से व्यापार में घाटा हो जाता है तो उसकी पूर्ति कौन करेगा? सेठ करेगा मुनीम नहीं। शरीर पाप करेगा तो फल आत्मा भोगेगा। शरीर तो यहीं रह जाएगा।

९१ तृष्णा की तृप्ति न कभी हुई है न होती है, न होगी। वह मनुष्य को पागल बना देती है अंधा बना देती है।

९२ हंस दूध में मिले हुए पानी को पी जाता है पर हम ऐसा नहीं करता। वह पानी से दूध को अलग करके ग्रहण करता है। विवेकी आत्माएँ भी शरीर और शरीरी का भेद समझकर दोनों को उनके योग्य ही आदर करती हैं।

५३ शरीर के लिए कोई पाप नही करना चाहिये, शरीर अलग है और आत्मा अलग।

५४ विवेकी मनुष्य आँखे बन्द होने से पहले ही ऋषि-महर्षियो के प्रवचनो अथवा धर्मशास्त्रो के स्वाध्याय से यह जान लेते है कि जीवन सपने के समान है, क्षण-भगुर है।

५५ आप खरबूजा भी खाते है और नारगी भी खाते है। खरबूजे के बाहर के छिलके पर तो फाँके दिखती है, पर काटने पर वह अन्दर से सारा एक होता है। नारगी बाहर से एक दिखती है, पर अन्दर उसकी अनेक फाँके होती है। हम जीवन मे खरबूजा बने, नारगी नही।

५६ अनासक्त ही सच्चा समत्व पा सकता है। समत्व पाने वाला ही योगी कहलाता है।

५७ जो विद्वान् है, समझदार है, ज्ञानी है, वे प्रत्येक कार्य को करने से पहले उसके फल का विचार कर लेते है और इस प्रकार अनेक पापो से बच जाते है।

५८ जो मनुष्य सब इच्छाओ को त्याग देता है और लालसाओ से शून्य हो कर कार्य करता है, जिसे किसी भी वस्तु के साथ ममत्व नही होता और जिसमे अहकार की भावना नही होती, उसे शान्ति प्राप्त होती है।

५९ बुरे भाव मनुष्य को विनाश की ओर ले जाते है और भले भाव विकास की ओर। बुरे भाव विकार कहलाते है और भले भाव विचार।

६० दानवता के सीग-पूँछ नही होते, न रग-आकार होते है। विकारो से मानव दानव बन जाता है और विचारो से दानव मानव बन जाता है।

६१ विकार द्वेष पैदा करते है, विचार प्रेम। विकार नरक मे ले जाता है और विचार स्वर्ग मे।

६२ लोभ एक इतना बडा विशाल समुद्र है कि जिसके भँवर मे पड कर निकलना अत्यन्त ही कठिन है। लोभ से क्रोध आता है, लोभ से कामनाएँ बढती है, लोभ से अज्ञान बढता है, और लोभ से विनाश होता है।

६३ जिस प्रकार चन्दन अपने काटने वाले कुल्हाडे को सुगन्धित कर देता है, उसी प्रकार अपने विरोधी को भी जो समभाव रूपी सुगन्ध अर्पित करता है, वही महापुरुष की सामायिक है।

६४ सामायिक हृदय को विशाल बनाती है। जीवन मे समभाव/समता को दृढ करने के लिए मैत्री, करुणा, प्रमोद और माध्यस्थ भावनाओ को अपनाना चाहिये।

६५ विचारों की शक्ति जितनी प्रबल होती है विचारों की शक्ति भी उतनी ही प्रबल होती है।

६६ जो कर्म क्षेत्र में प्रबल पराक्रम दिखा सकते हैं वे धर्मक्षेत्र में भी प्रबल पराक्रम दिखा सकते हैं। एक रास्ता विनाश का है और दूसरा विकास का।

६७ मनुष्य कितना भी विद्वान् हो, बुद्धिमान हो, सम्पत्तिवान् हो परन्तु यदि वह आचारवान नहीं है तो जगत में वह प्रतिष्ठा नहीं पा सकता।

६८ कमल में सुगन्ध न हो यह जरूरी है परन्तु उसमें सुगन्ध हो यह और भी अधिक जरूरी है। आचार जीवन की सुगन्ध है।

६९ निःस्वार्थ भाव से दूसरे का भलाई करना ही सदाचार है।

७० यदि हम संकट के समय अपने मित्र की सहायता न करें तो हमारी मित्रता कैसी? सहानुभूति सेवा और सहयोग द्वारा ही मित्रता प्रकट की जाती है।

७१ मित्रता ही वह माध्यम है जो हमें दुराचार से सदाचार तक ले जाती है।

७२ मिट्टी में सोना छिपा हो तब तक वह मिट्टी के भाव बिकेगा, मिट्टी से अलग करने पर ही सोने का असली मूल्य मिल सकेगा। बुद्धिमानी यही है कि मिट्टी से सोने को अलग कर लिया जाए। हमारा तन मन धन और जीवन भी क्षण भंगुर होने से तुच्छ है मिट्टी है। परोपकार ही इस मिट्टी में छिपा सोना है।

७३ यदि प्रत्येक मनुष्य में मानवता का निवास हो जाए तो सारे लड़ाई-झगड़े खत्म हो जायें। राष्ट्र राष्ट्र के संघर्ष मिट जाए। विश्वशान्ति प्रस्थापित हो जाए।

७४ अगर हम अपनी आत्मशक्ति को जागृत करें तो असंताप के स्थान पर संताप अशान्ति के बदले शान्ति और भय के स्थान पर अभय का वातावरण बना सकेंगे। ऐसे वातावरण में विश्व के सभी देशों का सभी प्राणियों का सर्वांगीण विकास हो सकेगा।

७५ जिस प्रकार सूर्य बिना कहे आप ही कमलों को खिलाता है चन्द्रमा बिना कहे कुमुदिनी को प्रफुल्लित करता है मेघ बिना याचना के जल बरसाता है उसी प्रकार महापुरुष भी बिना याचना के पराई भलाई करते हैं।

७६ श्रीमन्त तिजोरियाँ भरते जा रहे हैं परन्तु इन तिजोरियों की फूटी कौड़ी भी साथ नहीं जाने वाली है। अगर साथ ले जाना है तो करुणा धन सेवा-धन दया-धन और परोपकार धन से अपनी तिजोरियाँ भरना। यह धन साथ जाने वाला है रुपया पैसा और मुहरों से भरी तिजोरियाँ साथ जाने वाली नहीं है।

७७ अच्छे साहित्य का स्वाध्याय भी हमारा कर्तव्य है। अपना चरित्र पवित्र बनाने के लिए हमें महापुरुषो के जीवन-चरित्र पढने चाहिये।

७८ आप दर्पण मे अपना मुंह देखते है। यदि कही कोई दाग हो तो तौलिये मे पोछ डालते है। ठीक इसी प्रकार महापुरुषो के जीवन-चरित्र भी दर्पण है, जिनकी ओर देखने मे हमे अपने जीवन के विकार, कलक, दोष साफ-साफ दीख पडेगे। उस परिस्थिति मे हमारा कर्तव्य हो जाएगा कि हम ज्ञान-रूपी तौलिये को भावना के जल मे भिगो कर उससे अपने जीवन के दुर्गुण-रूपी दाग मिटा डाले।

७९ एक दीपक की लौ से हजारो दीपक जलाये जा सकते है। ठीक इसी प्रकार एक महामानव का चरित्र हजारो महामानव पैदा कर सकता है। जरूरत है दीपक-से-दीपक का सयोग करने की।

८० जब तक मन कच्चा है, तब तक सारी दौड-धूप व्यर्थ है। मन सच्चा हो तभी राम प्रसन्न हो सकते है।

८१ मन्दिर या स्थानक मे, मस्जिद या गिरजे मे ही नही, अपने घर और बाजार मे भी सदाचार साथ रखिये।

८२ मिठाई का नाम जपने से नही, उसे खाने से ही पेट भरेगा। ठीक उसी प्रकार महापुरुषो के स्मरण-मात्र से नही, उनके जीवन का अनुसरण करने से ही आत्म-कल्याण होगा। सदाचार से ही उद्धार होगा।

८३ राग छूटने पर द्वेष तो अपने-आप छूट जाता है, द्वेष होता ही इसलिये है कि हम किसी पर राग रखते है।

८४ आसक्ति छूटती है—सम्यक्त्व से, विवेक से। अजीव को जीव समझना मिथ्यात्व है। जीव को अजीव समझना भी मिथ्यात्व है। जीव को जीव और अजीव को अजीव समझना सम्यक्त्व है।

८५ शिक्षा केवल पेट-पूर्ति के लिए ही नही है, उसका महान् उद्देश्य जीवन-विकास है। जीवन मे दो ही रास्ते है—विकास का या विनाश का। इन दोनो शब्दो मे केवल व्यजक "क" और "न" का ही अन्तर है, परन्तु दोनो शब्द ३६ के अक के समान एक-दूसरे से भिन्न है।

८६ मानव को बाँधने के लिए साँकलो की आवश्यकता नही होती। मानव के लिए कोई बन्धन है तो मर्यादाएँ है।

८७ आप एक डायरी रखिये तथा उसमें जीवन को सुन्दर, आदर्श और संयमी बनाने के लिए कुछ नियम लिखिये। फिर प्रतिदिन उन नियमों का पालन करने की पूरी कोशिश कीजिये। अभ्यास से वे आपका स्वभाव बन जाएंगे। फिर नियमों का पालन करने के लिए आपको प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा।

८८ यदि एक अणु में सूर्य के समान शक्ति है तो आत्मा में अनन्त सूर्यों के बराबर शक्ति है। तभी तो आत्मा को अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य को धारण करने वाली माना जाता है।

८९ जैसे हम मिट्टी के मकान में रहते हैं वैसे ही शरीर रूपी मकान में हमारी आत्मा रहती है। किराये के मकान में किरायेदार की कोई आसक्ति नहीं रहती। यदि इस तरह शरीर के प्रति अनासक्ति पैदा हो जाए तो हमें मृत्यु का कोई भय न रहे।

९० ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती, आसक्ति से छुटकारा नहीं मिल सकता।

९१ ज्ञान का उपयोग दूसरों के दोष ढूंढने में छिद्रान्वेषण करने में मत कीजिये, आत्मनिरीक्षण में कीजिये।

९२ जड़ की अपेक्षा चेतना का महत्व अधिक है। हमें इस जड़ संसार में डूबना नहीं तैरना चाहिये। जहाज डूबता नहीं है तैरता है इसलिये वह दूसरों को तैराने में समर्थ बनता है। जहाज पानी में रह कर भी पानी के ऊपर रहता है। तीर्थंकरों की उपमा जहाज से दी जाती है।

९३ संसार में ममता का गीलापन हमारी आत्मा को उससे चिपकाये रखता है। ममता छोड़ कर हम अनासक्त बन सकते हैं।

९४ भावों की उत्पत्ति मन से होती है इसलिए यदि चोरों को न पकड़ कर चोरों की माँ को पकड़ने की तरह यदि मन को वश में कर लिया जाए तो अनासक्ति की साधना में सफलता मिल सकती है।

९५ किसी संगठन में कोई व्यक्ति ऊँचा बनने की कोशिश न करे, सुन्दर बन सके तो अच्छा है परन्तु न बन सके तो कम से कम ऊँचा न बने।

९६ दो मक्खियाँ थीं। एक चाशनी पर बैठी दूसरी शक्कर पर। पहली चिपक गयी दूसरी कुछ खाकर उड़ गयी। संगठन के लिए निःस्वार्थ बनना होगा। संघ के हित के लिए कुटुम्ब के हित का त्याग करने का शक्कर पर बैठने वाली मक्खी की तरह तैयार रहना होगा।

९७ अनुभव अमृत के समान मधुर होता है, उसमे द्वेष आदि का जहर नही होता।

९८ सोना यदि अपवित्र स्थान मे, कीचड मे, या गटर मे पडा हो तो भी कोई उसे नही छोडेगा। शत्रु मे भी अच्छे गुण है, तो उन्हे मत छोडिये, अपनाने को तैयार रहिये।

९९ मैले वस्त्र को फाडने से मैल नष्ट नही होता, तरीके से उसका मैल निकालना होता है। वैसे ही पापी को मार डालने से वह सुधर नही जाता तरीके से उसका हृदय-परिवर्तन करना पडता है।

१०० धर्म की, कर्तव्य की, शुद्ध भावनाओ की बाते कहनेवालो की भी कमी नही है और सुनने वालो की भी कमी नही है, कमी है केवल करने वालो की।

१०१ प्रकृति ने तो सब को मानवाकार मे एक ही स्नेह-नदी का पानी पीने वाला बनाया है, पर हम लोग अपनी सकुचित दृष्टि के द्वारा एक-दूसरे से नाम-भेद से हृदय-भेद करते है।

१०२ जो मुक्त बनाता है, विषयो से रहित करता है, मायावी प्रवृत्तियो से रहित करता है, कषायो से रहित करता है, वह धर्म है। इन्द्रियो की गुलामी जिसने खत्म करायी, भौतिकता की गुलामी से जिसने छुटकारा दिलाया, माया के जालो को तोडने की ताकत जिसने दी, परिवार मे रहते हुए भी जिसने 'एकोऽहं, ब्रह्मोऽहं, निरजनोऽहं' का पाठ पढाया, वह ज्ञान है।

१०३ सीपी मे चाँदी की भ्राँति हो रही है। इस भ्रान्ति को मिटाने का काम ज्ञान करता है। हमारे हृदय मे राग-द्वेष की जो ग्रन्थि, गाँठ है वह कब खुलेगी? जब ज्ञान का प्रकाश होगा।

१०४ हमे गुणानुरागी, गुणदृष्टा बनना है, छिद्रान्वेषी नही। जगत् मे गुण ही-गुण देखते जाओ और गुण-ही-गुण ग्रहण करते जाओ, फिर देखो कि अपने अन्दर कितना आनन्द होता है, कितनी शान्ति का अनुभव अपन करते है?

१०५ झाडू तो हाथ मे उठा ली, लेकिन जब तक रोशनी नही होगी, अँधेरे मे कचरा कैसे निकालोगे? ज्ञान प्रकाश है, क्रिया बुहारी। जब ज्ञान का दीप प्रज्वलित हो जाता है, तब आत्मा अपने विकारो की ओर, अपनी विभाव-दशा की ओर दृष्टिपात करती है। इन दोषो को देख लेने पर क्रिया-रूपी बुहारी विकार-रूपी कचरे को बाहर निकाल फेंकती है। ज्ञान के साथ क्रिया तो स्वय आ जाती है, अत क्रिया से पूर्व ज्ञान-दशा को जगाओ। □□

संस्कार का प्रश्न

हम सब दो दिनों से सत्य की चर्चा कर रहे हैं, सुन रहे हैं। यदि मन से सुना हो, यदि रस से सुना हो, यदि एकाग्रता से सुना हो और यदि सुनने के भाव से सुना हो तो अभी-अभी जो पद गाया गया है, वह आत्मा का साक्षात्कार देने वाला है। पर प्रश्न है क्या हमारा मन ऐसी चर्चा सुनने में लगता है? आकर बैठना वह भी अच्छी बात है, शब्दों को सुनना वह भी अच्छी बात है, पर जिस आशय से बात की जा रही है क्या उस आशय को सुनने में हमें रस आ रहा है?

संसार में प्रिय तो बहुत है। अनुकूल वस्त्र प्रिय हैं, सम्बन्धी भी प्रिय हैं, मकान प्रिय है, दुकान प्रिय है। 'प्रिय' का अर्थ क्या है (यही न कि) जो हमें प्रिय है। निकटतम सम्बन्धों में भी प्रियता है। जहाँ दृष्टि मिली, चार मिले नहीं और चौसठ खिले नहीं। चार आँखें जब ही मिलती हैं, चेहरा प्रसन्नता से झूम उठता है और दृष्टि, चेहरे की आकृति बता देती है कि सामने वाले व्यक्ति का इस व्यक्ति के मन में कितना महत्त्व है। नया वस्त्र भी यदि आ जाए तो मन इतना अधिक प्रसन्न होता है कि चेहरा चमकने लगता है (अर्थात्) जहाँ व्यक्ति को किसी भी प्रकार का रस होता है वहीं उसे आनन्द मिलता है।

देव, गुरु, धर्म के प्रति भी राग भाव होता है। यद्यपि कहने के लिए हम कहते हैं कि राग भाव है, बिल्कुल राग भाव है, तथापि हम पहले संसार के रागों का त्याग करें तो यह राग फिर अपने आप छूट जाएगा। एक आत्म विकास का निमित्त है, आत्मकल्याण का निमित्त है शास्त्र-श्रवण, जिन-मुद्रा के दर्शन, तीर्थों की वन्दना, पंचपरमेश्वर का स्मरण, राम-कृष्ण आदि जिनके जो आराध्य हों। मन यदि उनका स्मरण करता है तो इस स्मरण से विचारों में पवित्रता आती है। वीतराग मुद्रा के प्रति, सत्संग के प्रति भी यदि हमारे मन में प्रिय भाव हैं तो वह भी बहुत अच्छी बात है। अभी-अभी इस पद में हमें शब्द दिया जा रहा था—प्यारा।

'प्यारा' किसे कहें? अपनी ही आत्मा को, अपनी ही आत्मा के प्रति हमारे हृदय में प्रिय भाव जगे। पर जब तक प्रिय भाव नहीं जागेगा वहाँ तक नई बात

श्रवण मे प्रीति भी नही होगी, मन भी नही लगेगा, उल्लास भी नही उठेगा, आनन्द भी नहीं आयेगा तो उसे कहेगे मात्र सुनने-के-लिए-सुनना । आनन्द और उल्लास वही आता है, जहाँ लगाव होता है। किसी-किसी व्यक्ति से वात करते हुए ऐसा लगता है कि वात कब पूरी हो? आनन्द ही नही आता । किन्ही पदार्थो को देख कर ही लगता है कि वे आँखो के सामने से दूर हो, आनन्द ही नही आता, क्योकि वहाँ 'प्रियता' नही है । इस चेतन ने जगत् के दृश्यो मे खूब प्रिय भाव प्रकट किया। जगत् के सम्बन्धो मे खूब प्रिय सम्बन्ध जोडे। आज से नही अनन्तकाल से इस जीवात्मा ने पर-पदार्थो से सम्बन्ध जोड रखा है । दृश्यमान् जगत् मे इसकी मति प्रतिपल, प्रतिक्षण भटक रही है । इस जगत् मे राग और द्वेष की वृद्धि मे जीवात्मा हर समय अपनी आत्मा को भूल वैठता है । किसी और को नही भूला स्वय, स्वय को ही भूल वैठा है । स्वय-ने-स्वय को ही याद नही किया, अनन्तकाल मे याद नही किया, अपने-आपको याद नही किया । याद नही किया और यदि कोई याद कराने वाला भी मिल जाए तो याद कराने की वात भी अच्छी नहीं लगती । यह तो मैं नही कह सकता कि यहाँ वैठने वालो को अच्छी नही लगती है । यदि अच्छी न लगे तो सात वजे घर के छोड कर सर्दी मे इतनी दूर कौन दौडे? काफी वहिने कहती है, हमारा सवेरे का समय तो मशीन की तरह होता है । नजर घडी पर रहती है, हाथ चलते रहते है ।

आखिर 'प्रिय भाव' कुछ है । यदि और गम्भीरता मे जाना हो, गहराई मे जाना हो, स्वय की वात को प्रीति-पूर्वक सुनना हो, और स्वय की वात सुनने की लौ लग जाए, तो आनन्द आ जाए। जैसे करोडपति को करोड रुपयो की सूचना से आनन्द मिलता है, जैसे लखपति यदि हजार रुपये कमा ले, लाख रुपये कमा ले, तो आनन्द मिलता है । नये वस्त्र मिल जाएँ वहिनो को तो आनन्द आता है, कोई नया सूट सिल कर आ जाए तो वन्धुओ को आनन्द आता है। उससे कई गुना अधिक आत्म-चर्चा मे आनन्द आना चाहिये, सत्सग की वात मे आनन्द आना चाहिये । जहाँ आत्मा की वात सुनने को मिले वही मन भाव-विभोर हो जाना चाहिये । ऐसा लगना चाहिये कि आत्मकल्याण का एक-एक शब्द मुझे सम्हाल कर रखना है । किसे सम्हाल कर रखेगा? जिसे महत्त्वपूर्ण समझेगा, उसे ही न? जो महत्त्वपूर्ण नही है, उसे भला कौन सम्हालेगा?

जितने पदार्थ महत्त्वपूर्ण है, उन सबको आप ताला-कुजी से वन्द करके आये होगे, पर कुछ ऐसे भी पदार्थ होगे जो घर के वाहर यो ही पडे होगे? जिन्हे आपने मूल्यवान समझा उन्हे सदा सम्हाला। सत्सग मे आत्म-कल्याण के लिए जो शब्द मिलते है, उदाहरण मिलते है, उन्हे मुमुक्षु, साधक या जिज्ञासु वटोरेगा, वाँध कर रखेगा, नोट करेगा, दिमाग मे दस वार घुमायेगा कि आज यह वाक्य

आत्म कल्याण के लिए बहुत अच्छा है और यह वाक्य मेरी प्रकृति को सुधारने के लिए बहुत अच्छा है । पूरे एक घंटे के व्याख्यान में से कुछ वाक्य वह निकाल में नोट कर जाएगा, और दिन में दस बार उन्हें दोहराएगा । दोहराएगा तभी तो उसे कुछ स्वयं को प्रतिफल मिलेगा । दोहराएगा नहीं याद करेगा नहीं और विविध स्थितियों में अपनी प्रकृति को संतुलित रखने की कोशिश करेगा नहीं तो उसे आनन्द कैसे आयेगा ? आनन्द आयेगा किन्तु याद रखेगा कौन? वही जो सुनते समय जागरूक रहेगा । जो सुनने के समय में एकाग्रता से सुनेगा उपयोगपूर्वक सुनेगा । यदि उपयोगपूर्वक सुनेगा नहीं तो याद रखने का प्रश्न ही नहीं उठेगा । याद वही रहता है जिसे श्रवण के क्षणों में हमने एकाग्रता से सुना हो ।

यदि ऐसी श्रवण रुचि होगी तो हमारे संतों ने तो साफ-साफ कह दिया है कि तुम्हारी पात्रता का यहीं से प्रारम्भ हो गया । पात्रता का यहीं से मूल्यांकन हो गया । आनन्दघनजी महाराज से किसी एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि हे प्रभो सहज शांति मिले सहज आनन्द मिले सहज प्रसन्नता में रहूँ विषमता में भी समता की अनुभूति हो विविधता में भी एकता की अनुभव हो मुझे ऐसी दृष्टि दीजिये । आनन्दघनजी महाराज ने कहा, सहज शान्ति सहज शांति प्राप्त करने की तुझे ऐसी भावना उत्पन्न हुई, ऐसा विचार तुझे आया ऐसा विवेक तुझे आया यही अपने आप में तुझे धन्यवाद दिलाने वाला भाव है । कौन-सा भाव ? सहज शान्त । जैन दर्शन की आध्यात्मिक साहित्य को आप पढ़कर देख लें उन सारे ही संतों ने उस सुख को सुख नहीं कहा जो दूसरों पर निर्भर हो जो क्षणिक हो जो कालजयी न हो । आज हम अनुमान करें अनुभव करें चिंतन करें मनन करें हमें जितना भी सुख मिलता है जितने भी वह मिलता है स्थायी नहीं होता क्षणिक होता है । वह सदा रहने वाला नहीं होता आकर चला जाने वाला होता है । ज्ञानियों ने कह दिया कि जिसमें दूसरे की अपेक्षा है वह आनन्द नहीं हो सकता वह क्षणिक सुख हो सकता है इसलिए उस मुमुक्षु ने कहा कि तुममें सहज आनन्द प्राप्त करने की भावना जगी । सहज आनन्द और कहीं नहीं है स्वयं में ही है । तेरी आत्मा में ही है । तेरे में ही है । यदि तू प्रयत्न करे तो कहीं दूसरी जगह जाने की जरूरत नहीं है । तुझमें वही शक्ति है वही आनन्द है जो सिद्धों में है । जिस आनन्द को सन्तों ने पाया जिस सत्य के दर्शन उन्होंने किये तू भी उस सत्य के दर्शन कर सकता है । पर दर्शन करने की रुचि हो दान करने की भावना हो दान करने की तमन्ना हो और प्रयत्न हो तो परिणाम आता है । प्रयत्न कब होगा ? जब रुचि होगी । रुचि कब होगी ? जब बार-बार प्रीति-पूर्वक उस विषय को सुनेगा ।

कल स्वाध्याय मे मैने पढा, उमास्वाति-कृत 'प्रशमरति प्रकरण' मे हरिभद्रसूरि ने जिसकी टीका की है, ममुक्षु ने प्रश्न किया कि बात तो एक ही है। कुछ ही शब्दो में सारे धर्म-ग्रन्थो का सार निकल आता है। मूल मे तो बात यही है, राग को छोडो, द्वेष को छोडो। सारे धर्म-ग्रन्थो का सार तो इतना ही है। सारे सन्तो की वाणी कहती तो इतना ही है। तो केवल दो ही शब्द है और दो ही शब्दो को छोडना है तो फिर इतनी रामायण क्यो, इतनी चर्चा क्यो, इतना साहित्य क्यो, इतना उपदेश क्यो, उपदेश का इतना शोर क्यो ? नयी बात तो कुछ है नही। उत्तर मे कहा गया कि यद्यपि बात सत्य है, तथ्य तो इतना ही है। आचरण मे तो यही लाना है। परन्तु वह सत्य इतनी सरलता मे आत्मसात् हो जाए ऐसा होता तो इतना प्रयत्न शायद नही करना पडता।

रोज-रोज श्रवण करने से, त्याग और वैराग्य की बात सुनने से, त्याग और वैराग्य मे मन दृढ होगा वैसे ही जैसे रोज-रोज भोजन करने से शरीर पुष्ट होता है, नित्यप्रति निद्रा लेने से शरीर मे प्रात काल पुन ताजगी आ जाती है, स्फूर्ति आ जाती है, थकावट मिट जाती है। नित्यप्रति पदार्थो का सेवन करने से जैसे शरीर मे शक्ति आती है, प्रति दिन के स्नान से जैसे शरीर स्वच्छ रहता है, प्रति दिन धोने से जैसे वस्त्र पवित्र रहते है, वैसे ही त्याग और तप की बात प्रति दिन श्रवण करने से आत्मा मे त्याग और तप के प्रति भाव मजबूत होते है और वैराग्य-भाव दृढ होते है।

यदि एक दिन सुन कर दस या दो महीने उस बात को नही सुनोगे तो सुनी-सुनायी बात भी गगाजी चली जाएगी। नित्य प्रति श्रवण करने से उसका दिन मे दस बार विचार आता है, इसलिए हरिभद्र सूरि ने कहा कि सत्सग और सत् चर्चा प्रति दिन जरूरी है, इसलिए जरूरी है कि प्रति दिन श्रवण करते-करते त्याग और वैराग्य के सस्कार मजबूत बनेगे। मित्रता भी मजबूत होती है, कब ? जब प्रति दिन मिलते रहो। प्रति दिन मिलते रहो, प्रति दिन बात करते रहो तो सम्बन्धो मे घनिष्ठता आ जाती है। आत्मीयता बढ जाती है। कब ? जब आये दिन मिलो। यदि माँ-बेटे भी, भाई-भाई भी दस-पाँच महीनो मे एक बार मिलते है, एक-दो वर्षो मे एक-दो बार मिलते है तो दुनिया की दृष्टि मे तो सम्बन्ध है माँ और बेटे का, किन्तु चौबीसो घटे रहने वालो मे एक दूसरे के प्रति जो आत्मीयता, जो सहानुभूति, जो लगाव होता है, वह दो-तीन वर्ष मे आने वालो के मन मे नही होता, क्योकि सम्पर्क नही है चौबीसो घण्टो का। हर समय साथ रहने से आत्मीयता बढती है। एक-दूसरे के सुख-दु ख मे काम आने की भावना ज्यादा रहती है यदि आत्मीयतापूर्ण व्यवहार हो, किन्तु यदि बहुत दूर रहने वाले हो तो जैसे मेहमान आते है वैसे ही वे आते है और जैसे मेहमान जाते है, वैसे ही वे चले जाते है, क्योकि बहुत वर्षो से दूर रहते है, बहुत लम्बे समय से अलग रहते है, इसलिए कोई अधिक आत्मीयता नही है।

ठीक इसी प्रकार आत्म-कल्याण की चर्चा भी है, जो वर्ष में एक बार सुनता है या केवल पर्युषण में सुनता है उसके संस्कार गहरे नहीं हो सकते। उसके संस्कार गम्भीर नहीं हो सकते। नित्यप्रति सुनने वाले के संस्कारों में दृढ़ता आती है। एक गाय भी जब दो-तीन वर्षों तक एक घर में बाँध दी जाती है जब दो-तीन वर्षों में एक ही घर उस प्रति दिन जाना पड़ता है और जाती है तो उस घर में जाने के संस्कार उसके मजबूत हो जाते हैं, संस्कार इतने मजबूत हो जाते हैं कि कभी मालिक बेच भी दे या किसी दूसरे को दे भी दे, तो भी दो चार दस पाँच दिन तो उसका मुह उसी तरफ जाता है। उसी पुरानी मकान की तरफ जाता है, उसी गली में घुसने की कोशिश वह करती है क्योंकि उसके संस्कार मजबूत हैं।

संस्कार मजबूत कैसे होते हैं? नित्यप्रति सम्पर्क रखने से। चोर का संगत वाले के संस्कार चोर के बन जाते हैं। जुआ खेलने वाले का यदि प्रति दिन का सम्पर्क हो तो जुआ खेलने की आदत हो जाती है। शराबी का सम्पर्क हो तो शराब पीने की आदत हो जाती है। पहले दिन इच्छा नहीं होती दूसरे दिन नहीं होता, दो चार दिन भी नहीं होती, किन्तु नित्य प्रति ऐसे वायुमण्डल में जब व्यक्ति रहता है ऐसी सोसायटी में रहता है ऐसे व्यक्तियों के बीच रहता है तो कितने लोग ऐसे मिल गये हैं जो कहने लगे कि महाराज यह आदत कलब से बनी, सोसायटी से बनी, मित्रों के सम्पर्क से बनी, आये दिन उनके निकट बैठने से बनी, आये दिन होटल में उनके साथ जाने से बनी। एक दिन में नहीं बनी, दो दिन में नहीं बनी दस-पाँच दिनों में भी नहीं बनी किन्तु दो चार महीनों का नित्य प्रति का जो सम्पर्क है उस सम्पर्क ने उसे प्रभावित किया। जब प्रभावित किया तो वही कहा जा कर व्यसनी के साथ रहने वाला स्वयं भी व्यसनी बन जाता है। इसलिए नीति ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि यदि अपने जीवन को पवित्र रखना है, यदि विचारों को स्वच्छ रखना है यदि अपनी संस्कृति और संस्कारों के अनुरूप जीवन जीना है तो ऐसे सम्पर्कों का त्याग करें जिनसे तुम्हारे सुसंस्कार शिथिल न हो जाएँ तुम्हारी संस्कृति धूमिल न हो जाए, तुम्हारा वायुमंडल अपवित्र न बन जाए। ऐसे कितने लोग हैं जो यह अनुभव करते हैं कि यह सम्पर्क का परिणाम है। इसीलिए माता पिता का कर्त्तव्य होता है कि संतान के जीवन की सुरक्षा के लिए, उनकी जिंदगी सुसंस्कारों में बीते इसलिए बहुत पहले से उन्हें सजग रहना चाहिए सावधान रहना चाहिए। बारह-तेरह वर्ष की उम्र से लेकर बीस वर्ष तक, चाहे लड़की हो चाहे लड़का उसकी प्रत्येक क्रिया का अन्वेषण करना चाहिये, खोज करनी चाहिये जानकारी रखनी चाहिये। मैंने कई बार पहले भी कहा है कि कब आते हैं कहाँ से आते हैं किनके साथ आते हैं कब जाते हैं कहाँ जाते हैं और कितने बजे आते हैं, इसकी पूरी-पूरी जानकारी रखनी चाहिए, पहरेदारी करनी चाहिये क्योंकि जिम्मेवारी है। जन्म दिया है तो अच्छा जीवन जितायें, इसमें भी आपका उत्तर दायित्व है। इसे आप नकार नहीं सकते इसलिए बहुत जरूरी है कि आप उनकी पहरे दारी करें उनकी चौकसी करें, उनकी खोज-खबर रखें।

किसी एक पिता ने अपने बेटे से कहा कि बेटे ! मैं कितने दिनो से तुझे देख रहा हूँ कि जहाँ तू खड़ा रहता है, जिनके बीच तू दो-तीन घण्टे व्यतीत करता है; दूसरे लोगो ने भी मुझे कहा है कि उन पाँच-सात व्यक्तियो का, जिनके साथ तेरा समय व्यतीत होता है, आचरण ठीक नही है। उनके संस्कार ठीक नही है। उनमे कोई जुआरी है, कोई शराबी है। ऐसे व्यक्तियो का सम्पर्क तेरे जीवन को किसी-न-किसी खतरे मे ले जाएगा। कही-न-कही तू सस्कृति से टूट जाएगा। कही-न-कही तेरी प्रकृति परिवार के लिए परेशानी का कारण बन जाएगी। एक दिन, दो दिन, कितनी ही बार मना किया वह नही माना। पिता ने सोचा कैसे समझाऊँ, क्योकि सोलह-सत्रह वर्ष की उम्र के बाद अधिक ताडना-तर्जना भी उचित नही होती।

कही-कही तो हमारी प्रकृति हमे ही अशान्ति मे डाल देती है। पश्चात्ताप करने का मौका देती है। नीति कहती है कि पन्द्रह वर्ष के बाद, सोलह वर्ष के बाद, यदि बेटा भी है तो उसके साथ भी वाणी मे मित्रता का व्यवहार करना चाहिये। नीति ने इतना ही कहा है कि दस वर्ष तक ताडना-तर्जना करे। दस वर्ष की उम्र तक आप जैसा भी उचित हो वैसे शब्दो का प्रयोग करे तब भी बहुत बडे अपराधी नही है, किन्तु सोलह वर्ष की उम्र के बाद यदि आप लडके को रेकारा देते है, तुकारा देते है, दो थप्पड देते है तो हो सकता है कि उसमे प्रतिकार की भावना चेत जाए, हो सकता है आपके प्रति उसकी गलत भावना बन जाए। हो सकता है भविष्य मे वह आपकी कदर भी न करे। आपके प्रति उसका जो कर्त्तव्य है उसे भी न निभाये। नीति ने कहा है कि सोलह वर्ष के बाद बेटे के साथ भी व्यवहार मित्र जैसा होना चाहिये अर्थात् शब्दो का बहुत ही उचित, बहुत ही सीमित, बहुत ही सतुलित प्रयोग करना चाहिये अन्यथा एक बार जुबान खुली-तो-खुली। कही-कही तो बाप और बेटे के बीच भी इस प्रकार की भाषा की व्यवस्था होती है कि सामने वाला सोच ही नही पाता कि ये पिता-पुत्र है क्या ? क्योकि जिह्वा जब एक बार खुल जाती है, तब उसके बाद वह बन्द रहे, यह बहुत मुश्किल है। समझदार लोग तो पहले से ही सामने वाले की जिह्वा न खुले ऐसा ही विवेक रखते है, कम बोलते है। जरूरी-जरूरी टोकते है। बाप ने सोचा कि बेटा तो मानने वाला है नही। एक दिन जैसे ही बेटा बाहर जाने लगा, पिताजी ने उसे एक कोयला दिया और कहा कि जा उधर जाकर सिगडी मे डाल दे। बेटा कहने लगा कि पिताजी मैं इसे हाथ मे क्यो लूँ ? अरे ले ले, यह कोई जलता हुआ अंगारा थोडे ही है। तो वह कहने लगा कि पिताजी, इतना तो मै भी जानता हूँ कि यह अगारा जलता हुआ नही है, पर मेरा हाथ काला तो हो ही जाएगा। मुझे हाथ धोना तो पडेगा ही। हाथ जलेगा नही, किन्तु काला हो जाएगा, इसके लेने वाले का। पिताजी ने कहा तुझमे इतनी अकल है क्या ? इतना होश है क्या ? क्या तुझमे इतना



प्रणाम माध्वा मणिप्रभाश्री जन्म जयपुर १९६१ ई॰ नागास्वार १९
शुभाशीष प्रवर्तिनीश्री विचक्षणश्रीजी जन्म अमरावती १९१२
दीक्षा पीपाड १९२८, निधन जयपुर १९८०

विवेक है? क्या तू यह महसूस करता है कि भले ही कायता तुझे जलायगा नहीं किन्तु हाथ तो काले कर ही देगा। बेटे ठीक कहता हूँ कि भले ही तू एक बार बुरा न भी बन किन्तु बुरों की संगत में रह कर तू बदनाम तो हो ही जाएगा। उसने कहा दूर अच्छा बदनाम बुरा।

इस प्रकार संस्कृति और संस्कारों की सुरक्षा करने के लिए नित्य प्रति ऐसे व्यक्तियों का सम्पर्क नहीं होना चाहिए जिनका व्यक्तित्व विकसित न हो। तात्पर्य यह है कि प्रीति ऐसे व्यक्तियों से करें जो लखपति हों करोड़पति हों ऐसी बात नहीं है प्रीति उनसे करें जिनके संस्कार अच्छे हों जिनकी संस्कृति के प्रति आस्था हो। गरीब और अमीर की मित्रता नहीं रही हो ऐसी बात नहीं है। इतिहास बताता है। हमारे आराध्य-सम्बन्धों में इस प्रकार की मित्रता रही है। क्या सुदामा और श्रीकृष्ण की मित्रता प्रसिद्ध नहीं है? सुदामा और श्रीकृष्ण की मित्रता आज भी संसार को यह शिक्षा देता है कि मित्रता में अमीरी और गरीबी का भेद नहीं होना चाहिए। मित्रता में तो मित्रता के भाव होने चाहिए। एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता का व्यवहार होना चाहिए किन्तु मित्र की बात तो क्या करें आज तो स्थिति यह है कि रिश्तेदार भी रिश्तेदार नहीं समझते यदि उनके पास पैसा न हो। यदि वह गरीब है तो उसके निकट से गुजरते हुए बोलेंगे भी नहीं। यदि कोई करोड़पति लखपति की टाइटिल पा चुका है ऐसा व्यक्ति दूर भले हो हो, भले ही पड़ोस में न रहता हो, भले ही किसी गाँव में रहता हो यह व्यक्ति सामने मिल जाए तो लटक-लटक के नमस्कार करने में बड़ी खुशी का अनुभव हम करते हैं माया में माया मिले कर कर लम्बे हाथ निधन पड़े पहाड़ से कोई न पूछे बात।

अमीरी में किसी का साथ निभाना कोई बड़ी बात नहीं है। गरीबी में किसी का साथ निभाना बहुत बड़ा काम है। किसी के दुख-दर्द में काम आना बहुत बड़ी बात है। परेशानी के क्षणों में किसी को शान्ति के दो शब्द कहना बहुत बड़ी बात है।

संकट में हम किसी के काम आये यही तो मानवता है। यदि हम संकट में काम न आयें, दुख में काम न आयें, गरीबी में काम न आयें तो फिर हमारी जरूरत ही क्या है हमारे सम्बन्धों का महत्त्व ही क्या है?

श्रीकृष्ण ने मित्रता निभाया था। एक समय में जब सुदामा फटे कपड़ों में आये थे तार-तार वस्त्रों में आये थे, जिसको पहरेदार ने भी एक बार भीतर जाने देने में आनाकानी की थी, पर जैसे ही वे श्रीकृष्ण से मिले जैसे ही उनके निकट वे पहुँचे उनके हृदय में मित्रता के भाव ऐसे उमड़े कि वे गले लग कर मिलने लगे। यह विचार नहीं आया कि मैं राज सिंहासन पर बैठने वाला हूँ मेरे कैसे वस्त्र हैं, और इनके कैसे वस्त्र हैं?

महापुरुषो की प्रकृति सहज होती है। वे व्यक्ति के बाह्य वैभव के आधार पर उसका मूल्याकन नही करते। वे आत्मदृष्टि से आत्मा का मूल्याकन करते है। उनमे जगत् के पदार्थो का महत्त्व नही होता, जीव का जो स्वरूप है और जो सम्बन्ध है, उसका महत्त्व होता है। ऐसी भी मित्रता निभी है। वह सान्दीपन आश्रम आज भी याद दिलाता है। उज्जैन के निकट, मुझे मालूम है, जब गुरु विचक्षणश्री महाराज उज्जैन पधारे थे, उन्होने रामनवमी का प्रवचन वही दिया था और सान्दीपन आश्रम मे जा कर सुदामा और श्रीकृष्ण की मित्रता पर ही उनका प्रवचन हुआ था।

प्रतिदिन के सम्पर्क से मित्रता जैसे प्रगाढ बनती है, गलत आदमियो के प्रतिदिन सम्पर्क से जैसे जीवन मे गलती आ जाती है, वैसे ही नित्यप्रति त्याग और वैराग्य की बात सुनने से मन मे त्याग और वैराग्य के प्रति भावो मे दृढता आती है। तात्पर्य यह कि हम चले कहाँ से है कि प्रतिदिन सत्सग मे क्यो जाना, सत्सग के वातावरण मे क्यो आ कर बैठना? तो हरिभद्र सूरि ने 'प्रशम-रति प्रकरण' मे लिखा है कि प्रतिदिन श्रवण करने से, प्रतिदिन त्याग और वैराग्य की बाते सुनने से, प्रतिदिन आत्मा की चर्चा सुनने से आत्मा से आत्मा के प्रति प्रियता के भाव जागते है। आत्मा मे आत्मा के प्रति प्रियता के भाव जागेगे। प्रिय की बात सुनने मे बड़ी लगन होती है। कोई सन्देश भी आ कर दे दे प्रिय व्यक्ति का तो सुनने मे बडा मन लगता है। प्रिय व्यक्ति का यदि पत्र भी आये तो पोस्टमैन को देख-कर ही मुख पर मुस्कराहट छा जाती है, क्योकि कोई प्रिय है। जहाँ प्रिय है, वहाँ मन लगता ही है। सुनने मे भी मन लगता है। बात करने मे भी मन लगता है। देखने मे भी मन लगता है। आने मे भी मन लगता है। जाने मे भी मन लगता है। मन कहाँ लगता है, जहाँ प्रिय भाव हो। ज्ञानी कह रहे है कि अनन्त-काल से इस जीव के अपनी आत्मा के प्रति प्रिय भाव नही रहे और प्रिय भाव नही होने से आत्मा की बात अनसुनी यह जीव बराबर करता आया है।

शरीर के प्रति हमारे मन मे प्रियता के भाव है, जब हमने एक बार यह जान लिया और मान लिया कि अग्नि मे हाथ डालने से हाथ जल जाएगा, तब डालने की जरूरत महसूस नही करते। किसी का अनुभव सुन कर ही विश्वास जमता है हमारे मन मे कि उसका हाथ जला है तो मेरा हाथ जलेगा-ही-जलेगा, इस तरह अनुभव के आधार पर हमारे मन मे आस्था आ जाती है, विश्वास आ जाता है। वहाँ यह भाव नही आता कि हाथ को अग्नि मे डाल कर ही देखे, क्योकि शरीर के प्रति प्रियता का भाव है। वैसे ही सन्त, ज्ञानी, महात्मा, जिनकी आत्मा उन्नत है, मन मे आत्मा के प्रति जिनके प्रियता के भाव है वे आत्मा की दुर्गति न हो, आत्मा तिर्यच गति मे न जाए, आत्मा नरक गति मे न जाए, आत्मा

जिनमें जन्मा आत्मस्वरूप का ममत्व ऐसा यत्न करते हैं क्योंकि आत्मा के प्रति जब प्रियता के भाव होते हैं तभी आत्मा को अधिक कलुषित करने वाले कषाय और विषयों के प्रति उनके मन में प्रीति के भाव नहीं होते। वह इन्हें बाधक मानता है। आत्मशुद्धि में कषाय प्रवृत्ति बाधक प्रवृत्ति है। वह इसे बाधक मान कर उससे बचता है। निश्चय रखता है जैसे शरीर के लिए अग्नि का प्रत्यक्ष सम्पर्क बाधक है वैसे ही आत्मा के लिए कषाय का सम्पर्क बाधक है।

राग के कारण राग नहीं रहते उनके साथ प्रयत्न होता है। प्रयत्न के साथ परिणाम आता है। परिणाम कब मिलता है? जब आत्मा को हम प्रिय मानें। एक वस्त्र रंगीन है या श्वेत, नया है, महँगा है किन्तु उसके प्रति यदि प्रियता का भाव जुड़ा है तो होता है कि दूसरे दिन धुलने के दिन उसे कोई पहन कर बाहर नहीं जाता, इसलिए डर आता है कि वह खराब हो जाएगा। मेरा कपड़ा खराब हो जाएगा। यह दस-पचास-पचहत्तर या सौ रुपये के मूल्य का जो वस्त्र है उस वस्त्र के प्रति जो प्रियता का भाव है, यह प्रियता का भाव ही उसे बचा रहा है। यह प्रियता का भाव ही उसे मना कर रहा है कि नहीं नहीं इस वस्त्र को पहन कर आप मत निकलना। दूसरों की दृष्टि में भी यह वस्त्र मूल्यवान है तो परिवार के सदस्य भी कहते हैं कि क्या बेवकूफी कर रहे हो? क्या आज दिन है ऐसा कीमती वस्त्र पहन कर निकलने का? और कोई पहन भी ले तो गुस्सा दे दूसरे, क्योंकि प्रियता का भाव है। प्रियता का भाव होने से वह शायद ही उस वस्त्र को व्यक्ति गन्दा करना नहीं चाहता। अभी आप तो क्या जो धागों के वस्त्रों में घर कर आया है उस वस्त्र में भी दाग न लगे इन भावों के कारण व्यक्ति यदा कदा इधर उधर दृष्टि डालता है। कहाँ ध्यान देता है कि कहीं भी कुछ बिछा कर बैठें क्योंकि वह जो स्वच्छता है, वह कपड़े की जो स्वच्छता है स्वच्छता के प्रति जो उसके मन में प्रियता का भाव है वह पसन्द नहीं करता कि कपड़े में दाग लग जाए।

कुछ-एक व्यक्ति तो ऐसे मिल होंगे जो कहते हैं कि महाराज मेरी जिन्दगी का एक सपना है कि कपड़ा फट जाए भले ही किन्तु उस पर कभी दाग लग जाता ऐसा नहीं हो सकता। मुझे उसी क्षण विचार आया कि जैसा इस आप का शरीर के प्रति वस्त्रों के प्रति ममत्व है वैसा ही ममत्व आत्मा के प्रति जाग जाए और भाव मन में आ जाए कि मेरी आत्मा को दाग न लगे उसमें कालिमा न आ जाए तो कितना अच्छा हो? वस्त्र में कालिमा आने में एक पल हम तुरन्त ही ठीक कर देते हैं किन्तु आत्मा की स्थिति पर कहीं दाग लगा है उसके प्रति इस जीव के मन में वैसे भाव नहीं आते। क्यों नहीं आते? क्योंकि आत्मा के प्रति [illegible] भी प्रिय भाव पैदा हो [illegible] दिए।

उनकी कीमत उतनी भी नही है जितनी कि दो कौडी की है। दो कौडी की कीमत है दो तिनको की कीमत है, झाडू की कीमत है। उसको भी कही-न-कही सँभाल कर रखने के भाव है, किन्तु आत्मा को सँभालने के भाव अभी नही आये है। यह विचार नही आया कि क्रोध के भावो मे तो मेरी आत्मा की दुर्गति हो जाएगी, अत उनसे आत्मा को बचाऊँ। उस क्रोध-भाव को हटाऊ, ऐसा विचार नही आता।

किसी व्यक्ति ने मुझे अपने अनुभव के आधार पर कहा कि महाराज, जिस रोज मैंने यह अनुभव किया कि मुझे क्रोध की प्रवृत्ति छोडनी है जब मेरी आस्था हो गयी, जब मेरा विश्वास हो गया, मेरा सकल्प हो गया तब मैंने पूरी तरह से कोशिश की कि बाधक परिस्थितियो से बचना, विषम वातावरण मे बचना, उस प्रतिकूल क्षण से बचना, उस प्रकरण मे बचना, उन निमित्तो मे न जाना, और इतने पर भी यदि परिस्थिति आकर खडी हो जाए तो उस कमरे को छोड देना, घर से बाहर निकल जाना, वाणी का सयम कर लेना, मौन हो जाना। मैंने कई प्रकार के नुस्खे अपनाये। उसने आगे कहा कि महाराज, एक सरल-से-सरल प्रयोग मैंने किसी पुस्तक मे पढा। पढा कि जैसे ही तीव्र क्रोध आये और उस समय यदि बोले बिना न रहा जाए (ऐसा हो नही सकता कि क्रोध तीव्र भी आ जाए कोई बोले भी नही। कभी कोई लाचारी हो, विवशता हो तो अलग बात है अन्यथा व्यक्ति मुँह खोले बिना रहता नही है।) तब ऐसे मे मैंने एक प्रयोग किया, सरलतम प्रयोग, ऐसा प्रयोग जो कभी विफल नही होता। वैसे ही क्रोध तेज आया, मै पूरा मुँह खोलता और मुँह खोल कर पानी भर लेता और गिडुला करता। अब बताइये कि यह कितना सरल नुस्खा है और कितना अच्छा नुस्खा है? कही जाना भी नही पडता। दो पैसे भी देने नही पडते। दो शब्द भी नही बोलने पडते। पानी तो इतना सहज-सुलभ है कि उसे जीवन ही कह दिया है। हर व्यक्ति के घर मे पानी हर परिस्थिति मे सुलभ है। अब यदि पानी को पी लिया जाए और मुँह को उससे पूरा भर लिया जाए जैसे गुब्बारे को हवा से भर देते है वैसे, तो फिर आवाज निकलेगी क्या? कैसे निकलेगी? नही निकलेगी। पर ऐसा करेगा। कौन? वही न, जिसे अपनी प्रकृति को बदलना है।

सुनने वाले हजारो-हजार हो सकते है, किन्तु उस नुस्खे को अमल मे लाने वाले तो वे ही होगे जिन्हे अपनी प्रकृति को बदलना है। प्रकृति को कौन बदलना चाहेगा, जिसका यह लक्ष्य बन जाएगा, जिसकी धारणा बन जाएगी, जिसमे विवेक आ जाएगा कि नही-नही मनुष्य-जीवन मे मुझे अपनी आत्मा के प्रति 'प्रिय भाव' पैदा करना है। मुझे चेतन के प्रति ही 'प्रिय भाव' जगाना है। यदि चेतन के प्रति हमारे मन मे प्रियता के भाव आ जाएँ और उन भावो मे यदि घनत्व आ जाए तो 'बाहर मे प्रियता' कही रह नही जाएगी। बाहर मे प्रिय-अप्रिय के भाव समाप्त

हो जाएँगे। क्या नहीं सुना, नहीं पता उस मीरा का? जिसके संसार के प्रति प्रिय-अप्रिय के भाव समाप्त हो गये थे? प्रियता का कोई भाव रहा था तो मात्र श्रीकृष्ण के प्रति। उसी छवि को निरखना, उसी छवि को देखना, उसी छवि का स्मरण करना, और उसी छवि को अपने हृदय सिंहासन पर बैठाना। यह स्थिति हो गयी थी उसकी। दूसरे भाव आयें तो आयें कैसे और आयें तो टिकें कैसे? यदि इधर-उधर के विकल्प आने भी लगें और जिसको प्रभु स्मरण की आदत है और मनोयोग-पूर्वक स्मरण करने से तो विकल्प टिकेंगे कहाँ? नहीं टिक सकते। पर यहाँ टिकाने की बात ही कहाँ है? यहाँ तो उन भावों में उनमें डूबे रहने की आदत इतनी ज्यादा हो गया है कि जीव ने दृश्यमान् जगत में अधिक महत्त्व किसी को दिया ही नहीं है। दृश्यमान जगत् में ही वह रचा-पचा है। उसे ही पाना और उसे ही खाना। उसे ही पाने में रूप है उसे ही खाने में रस। उसी रूप में यह जीव अनन्तकाल से यात्रा करता आ रहा है। दृश्यमान् जगत में सबके प्रिय-अप्रिय भाव हैं।

ज्ञानी कहते हैं, यदि तुझे शाश्वत शान्ति चाहिए, यदि सहज रूप चाहिए तो अपनी आत्मा के प्रति प्रियता के भाव जगा। किसके प्रति जगा? अपनी आत्मा के प्रति, और जगा प्रियता के भाव। क्या कभी जगेंगे? अभी तो बहुत मुश्किल है? काफी लोग तो यह कहते हैं कि विकल्प ही नहीं आता कि आत्मा क्या है? यह विचार ही नहीं आता कि आत्मा की शुद्धि करनी है। यह विचार ही नहीं आता कि आत्मा कर्मों का नवग जिदा हो जाएगी। यह विचार ही नहीं आता कि सब कुछ यहीं रह जाएगा। क्षण भर के लिए आ भी जाता है, परन्तु उस ज्ञान की कोई कीमत नहीं होती। सन्त बार-बार कह रहे हैं वे ज्ञानी महात्मा जिन्होंने आत्मदर्शन का अनुभव किया है, कह रहे हैं कि जो आनन्द अपनी आत्मा के स्मरण में है वह आनन्द और कहीं है ही नहीं।

हमारी स्थिति क्या है? हमारे लिए तो उसकी कल्पना भी मुश्किल है। शक्कर के पहाड़ का चींटा और नमक के पहाड़ की चींटी दोनों परस्पर मिले। नमक के पहाड़ की चींटी कहने लगी—मेरे मुँह का स्वाद मेरा जायका—जैसा तू सोच भी नहीं सकता।' शक्कर के पहाड़ का चींटा बोला कि मेरे शक्कर के पहाड़ पर जैसा स्वाद है उस स्वाद में जैसी मधुरता है आनन्द है वह तुझे आ ही नहीं सकता। यह कहने लगा जा-जा क्या बात करता है? (भौतिकता का जिनको रस है, भौतिक पदार्थों के प्रति जिनको आकर्षण है, पाँच इन्द्रियों के विषयों में जो जीव रचा-पचा है वह कहता है इस जीवन में जो आनन्द है उससे बढ़कर क्या रखा है? काफी लोग कहने वाले मिलते हैं कि महाराज आपने तो जीवन को समझा ही नहीं, और बिना समझे ही उसे छोड़ दिया। जिन्दगी का आनन्द

ही नहीं लिया। ऐसे भी कहने वाले लोग हैं। काफी लोग तो कहते थे, महाराज यह उम्र क्या इस प्रकार के त्याग की है? मैंने कहा नहीं भाई, मनुष्य की जिन्दगी त्याग करने की है, विश्राम करने की मुद्रा है, क्योंकि दृष्टि है। हर व्यक्ति की अपनी दृष्टि है।) शक्कर के पहाड़ की चींटी कहने लगी कि 'स्वाद का अनुभव तुझे नहीं आ सकता'। नमक के पहाड़ की चींटी कहने लगी, 'तुझे आनन्द नहीं आता। उसने कहा, चल तो सही मेरे यहां। मेरे साथ तो चल।' जब शक्कर के पहाड़ की चींटी को ले गयी नमक के पहाड़ वाली तब वह कहने लगी 'यहाँ रखा ही क्या है? थू-थू, सब कुछ खारा-ही-खारा है।' और नमक के पहाड़ वाली चींटी जो शक्कर के पहाड़ पर गयी तो कहने लगी 'मेरा तो मुंह और खराब हो गया' क्योंकि नमक की डली तो पहले ही मुंह में है और नमक मुंह में रहते उसने शक्कर का उपयोग किया है। ऐसी स्थिति में क्या हुआ?

हम सांसारिक आकर्षण को, सांसारिक/भौतिक पदार्थों के सुखों को छोड़ने की कल्पना नहीं करते और इन सब को पाते हुए आत्मसुख की बात करते हैं, ऐसी स्थिति में होगा क्या? क्योंकि जब तक इस चेतन के मन में चेतन के प्रति प्रियता के भाव नहीं जगेंगे, तब तक इसके मन में यह सन्त-वाणी उतर जाए बहुत मुश्किल है। फिर भी हमें प्रयत्न करना है, प्रतिदिन त्याग और वैराग्य की बात सुननी है, इसलिए सुननी है कि हमारे मन में कहीं-न-कहीं यह बात गहरे में पैठ जाए, आपके लिए, मेरे लिए सबके लिए मैं यही मंगल-कामना करती हूँ।

(इन्दौर २७-१२-१९८१)

हम उपासना करते हैं वीतरागता की और प्रार्थना करते हैं राग की। हम वह खाद्य पदार्थ पसन्द नहीं जिसमें राग न आये, वह वस्त्र पसन्द नहीं जिससे राग पैदा न हो, वह धरती पसन्द नहीं, वह कुर्सी पसन्द नहीं, परिवार का वह सदस्य पसन्द नहीं कि जिसमें राग पैदा होने का निमित्त न हो। रागभाव जितना ज्यादा से ज्यादा पैदा हो उतना ही व्यक्ति मुस्कराता है। जब तक कोई इस रागभाव की साधना करता रहेगा तब तक वह वीतराग भाव की ओर अपनी आत्मा को कैसे मोड़ेगा? नहीं मोड़ सकेगा। इसलिए नहीं मोड़ सकेगा कि उसे राग ही पसन्द है। राग को ही वह ग्रहण करना चाहता है। उसकी दृष्टि में राग की ही महिमा है, और राग का ही मूल्य है। इसलिए वह मुस्कराता है। किसी के मकान को देखकर वह मुस्कराता है और उसके दिमाग में ले लेता है कि यदि मैं बनाऊँगा तो ऐसा मकान बनाऊँगा। ऐसा मकान बनाऊँगा यह मन की माँग है या शरीर की आवश्यकता? शरीर की आवश्यकता तो मात्र इतनी है कि उसे एक कमरा चाहिए या जितना मिले उतना कम है। बस एक कमरे में भी व्यक्ति अपनी जिन्दगी गुजार सकता है आराम से। उस व्यक्ति ने मकान बना लिया तीस कमरे का सिलसिला।

मकान बनाने में इतनी दिलचस्पी, इतना राग, इतना आनन्द कि जहाँ कहीं थोड़ी भी कमी महसूस हुई कि तुड़ाओ। थोड़ी कमी महसूस हुई कि फिर तुड़ाओ। डिजाइन पसन्द नहीं आया तो फिर तुड़वाओ। तोड़ना गया और नया नये ढंग से पत्थर जोड़ना गया। तोड़न-ताड़न, तोड़न-जोड़न मन के अनुकूल जब मकान बन गया, तब चेहरे पर मुस्कराहट और ज्यादा आ गया। रागभाव ज्यादा पुष्ट हो गया। दुःख मन में कभी नहीं रहा इसलिए चेहरे के नूर आ गया है। अति सुख और अति दुःख व्यक्ति अपने हृदय में भी नहीं सकता यह मैं पहले भी कहा है। अति खुशी को भी बाँटे बिना नहीं रहता और अति दुःख को भी कहे बिना नहीं रहेगा। कहना-कहना कहना चाहेगा किसी न किसी को सुनाना चाहेगा किसी न किसी को बताना चाहेगा। इसलिए मकान निर्माण के बाद मकान देखने में जो खुशी उसे हो रही थी उसे वह सम्भाल नहीं सका। उस आनन्द को व्यक्त किए बिना

रह नही मका वार-वार मोचा—दिखाऊँ, दिखाऊँ। मव लोगो को दिखाऊँ, क्योंकि जितनी वार कोई देखेगा उतनी वार प्रशसा करेगा और जितनी वार प्रशसा करेगा, उसे उतना ही आनन्द आयेगा।

किसका आनन्द आयेगा? मकान का आनन्द आयेगा। मकान क्या है? पाँच स्थावर से कलेवर मे ही तो वह वना है। पृथ्वी का, आग का, पानी का, वायु का, वनस्पति का। क्या लगा है मकान मे? पाँच के सयोग से ही मकान वना है। पाँच के सयोग से जो मकान वना है, उसमे अनन्त-अनन्त जीवो की हिसा हुई है और हिसात्मक प्रवृत्ति मे जो मन की प्रसन्नता है, वह क्या है? उसने बड़ा महोत्सव किया। महोत्सव करके हजारो को खिलाया और खिलाने के बाद आनन्द मनाया।

वेचारा सेठ है, पूरे दिन गद्दी पर वैठने वाला। शरीर को परिश्रम भी वर्दाश्त नही, किन्तु आज खुशी के प्रसग मे उसे थकावट महसूस नही हो रही है। ऊपर से नीचे जो आ रहा है उसी के साथ घूम रहा है मित्रो के साथ घूम रहा है, परिवार के सदस्यो के साथ घूम रहा है। एक-एक कमरा दिखा रहा है। कमरा दिखाते-दिखाते लेट्रिन-वाथरूम भी दिखा रहा है। मैंने टाइले ऐसी लगायी है, मैंने मारवल ऐसा लगाया है, मैंने इसमे कोटा का स्टोन लगाया है, मैंने इसमे यह लगाया है, मैंने इसमे वह लगाया है। दर्शन करा रहा है। ऊपर से नीचे कितनी वार चक्कर काटता है।

दिन-भर सव को दिखा कर, दर्शन करा के, खुशी मना कर सो गया। रात्रि मे फिर विचार कर रहा है कि अभी तो दिखाना और वाकी है, क्यो वाकी है? क्योकि अभी तो यह वात केवल इसी शहर मे फैली है। वात बहुत ज्यादा फैली नही है। फैलाना चाहता है, इसलिए उसने सोचा किसी घुमक्कड को पकडो। जो घुमक्कड होगा वह प्रशसा को ज्यादा-से-ज्यादा फैला देगा, क्योकि जो ज्यादा भ्रमण करता है वह अपने अनुभव कहता रहता है। अनुभव कहता रहता है तो उस वात का प्रचार होता रहता है। उसने घुमक्कड मे भी एक साधु को पकड लिया और कहा—'महाराज चलो, चलो आहार के लिए चलो। मेरे घर-आँगन पधारो। मेरे चौके को पवित्र करो। मेरे आहार को पवित्र करो।' मुनिराज खडे हो गये। आहार देना चाहता है, किन्तु दे नही रहा है। मुनि सोच रहे है कि इतनी देर क्यो कर रहा है यह? उन्होंने सकेत दिया कि आपकी इच्छा-पूर्ति मैंने कर दी, आ गया मै—आप लाभ लीजिए। महाराज, थोडी-सी, प्रार्थना और है थोडी-सी प्रार्थना और है। जरा उस कमरे मे पधारिये, उस कमरे मे पधारिये। मैं चाहता हूँ हर कमरे मे आपके पाँव पड जाएँ। हर कमरे मे आपके चरण पड जाएँ, मेरा घर पवित्र हो जाएगा। घर पवित्र हो जाएगा (यानी अहम् पुष्ट हो जाएगा)।

मुनिजी नही चाहते थे जाना। मुनिजी ने उसकी मुस्कराहट को भी समझा उसके कहने के लहजे के पीछे छिपे भावो को भी समझा। समझ कर भी कुछ

विशेष बात सोच कर घूम गये। हर कमरा घूम कर वापिस चौके की तरफ आकर खड़े हो गये। सेठ बार-बार कह रहा है—कोई कमी बता दो, कोई कमी बता दो, कोई कमी बता दो। आप जरा भी कमी बतायेंगे मैं तुरन्त ठीक करा लूंगा।

मुनि सोचने लगे कि कितना बेवकूफ आदमी है, कितना अज्ञानी है? इसको अभी इतना भी मालूम नहीं है कि श्रावक की भूमिका क्या और साधक की भूमिका क्या, साधु की भूमिका क्या? एक श्रावक भी आरम्भ समारम्भ की क्रिया में अत्यधिक खुशी अनुभव नहीं करता, यह श्रावक का लक्षण है। श्रावक श्रावक की भूमिका में रहते हुए आरम्भ-समारम्भ की क्रिया करता हुआ मन में इस प्रकार के भाव रखता है कि हे प्रभो, कब वह दिन आये कि मैं इस संसार से छूट जाऊं? कब वह क्षण आ जाए कि मेरी आत्मा में पुरुषार्थ जागृत हो? कब मेरा सौभाग्य हो कब मैं इन पांचों इन्द्रियों के विषयों की निवृत्ति के लिए आत्मसाधना में लग जाऊँ? धन्य धन्य दिन होगा वह जब मेरी आंख ठहरेगी तो वीतराग मुद्रा देख कर, मेरी जिह्वा गायेगी तो वीतराग के गुण गायेगी, मेरे कान श्रवण करेंगे तो वीतराग की महिमा श्रवण करेंगे। इससे अधिक मेरी इन्द्रियों के विषयों की कोई स्थिति मेरे मन में नहीं होगी।

श्रावक के मनोरथ होते हैं। श्रावक की भूमिका होती है। श्रावक श्रावक की भूमिका में रहते हुए भले ही गृहस्थ जीवन नहीं छोड़ता, उसका मन का बंधन हो या परिस्थिति का बंधन हो या अन्य कोई भी हो किन्तु रहते हुए भी वह अपने आगे कदम का चिन्तन बार-बार करता है। ऐसा दिन कब आयेगा, ऐसा अवसर कब आयेगा कि मैं मनुष्य जीवन में इन सारे प्रपंचों से मुक्ति पा कर आत्म-साधना में लग जाऊँगा। बाहर से उपयोग हटा कर अन्तर में उपयोग को जोड़ दूंगा और पाँच इन्द्रियों की दिशा को निवृत्ति में आत्मा को आत्म-साधना में लगा दूंगा।

यह श्रावक की भूमिका है। ऐसी स्थिति में श्रावक, श्रावक के कर्तव्यों का पालन करते हुए भी स्वल्प बंध करता है।

श्रावक के क्या कर्तव्य हैं सांसारिक क्रियाएं करते हुए? क्या अल्प बंध होता है उसे? वह आसक्त नहीं होता। उसे रस नहीं आता। उन सांसारिक क्रियाओं में बहुमान नहीं आता। राग होते हुए भी उस राग का राग नहीं होता। उस भूमिका में रहते हुए भी वह यह सोचता है कि मुझे करना पड़ता है इसलिए करता हूँ किन्तु करना है ऐसे भाव उसे नहीं आते।

मुनि जो श्रावक की भूमिका से ऊपर हैं सोचने लगे कि यह श्रावक है किन्तु श्रावक के स्वरूप का भान इसे नहीं है और श्रावक-धर्म का आचरण भी

इसमे नही है, इसलिए मुनि से प्रार्थना कर रहा है कि 'महाराज प्रशंसा करो प्रशसा करो, प्रशसा करो'। सन्त ने कहा—'मुझे तो कुछ भी नही कहना है'। 'नही महाराज, आप कुछ बता ही दो'। 'अरे! क्या बता दूं? कैसे बता दूं?' मुझे कुछ बता दो। कोई कमी रह गयी हो तो मैं तुरन्त सुधरा दूंगा। ठीक करा दूंगा। मुझे बता दो।' सन्त ने बहुत सोच-समझ कर कहा—'मुझे तो ऐसा लगता है कि तुमने जो कुछ भी किया है, तुम्हारी दृष्टि से बहुत अच्छा किया है, तुम्हारी दृष्टि से तुमने जिन्दगी की कमाई को भी, इस ईट, चूने, पत्थर मे जोड दिया है, जिसकी कल्पना मे भी मुस्करा रहे थे, जिसे बना कर भी मुस्करा रहे हो और जिसे दिखा कर भी मुस्करा रहे हो। मुझे ऐसा लगता है, कि यह जो दृश्यमान मकान तुम्हारा है और जिसमे तुम्हारी दृष्टि उलझी हुई है, कभी एक दिन ऐसा आयेगा जब तुम्हे यहाँ से जाना पडेगा। मेरी दृष्टि मे यदि भूल कोई रही है तो बस एक ही है कि तुमने मकान तो बनाया है, किन्तु दरवाजा क्यो बनाया? यदि दरवाजा तुम नहीं बनाते तो अधिक अच्छा होता? तुम्हे कही जाना नही पडता।' सेठ ने कहा—'यह कैसे हो सकता है? दरवाजा तो रखना ही पडता है, नही तो आता कैसे, जाता कैसे, कारीगर कैसे आते, कैसे सामान आता, और कैसे मकान बनता?' 'जब जाना निश्चित है तो उसे देख कर मुस्कराना क्या है?' —सन्त ने कहा। तुम जरा विचार करो कि तुम मुझसे प्रशसा कराना चाहते हो। किसकी प्रशसा करूँ? पाँच भूतो के पिण्ड से बने इस मकान की। नामालूम कितने जीवो की, त्रसो की भी, हिसा हुई है, कितने स्थावर जीवो की हिसा हुई है। हिसात्मक प्रवृत्ति का अनुमोदन मुनि की भूमिका मे रह कर यदि कोई करता है तो मुनित्व का उसे परिचय नही है। मुनि-पद मे वह है, किन्तु मुनि-पद की महिमा का उसे बोध नहीं है। मुनित्व उसमे नही है और मुनि के आचरण का उसे कोई लक्ष्य नही है अन्यथा जीभ चल ही नही सकती, कैसे चलेगी?'

सन्त ने समझाने का प्रयत्न किया—'अरे भाई, जरा विचार तो कर! तूने किसको सजाया और किसलिए सजाया? किसको सजाया? क्योकि घुमाते-घुमाते वह ड्राँइगरूम (बैठकखाने) मे उन्हे ले आया और वहाँ खडा कर दिया। कही-कही तो ड्राँइगरूम मे ऐसी व्यवस्था है कि वहाँ वह स्वय चौबीस घटो मे एक बार भी पाँव नही रखता। केवल कोई मेहमान आये तभी उसका ताला खुलता है या सफाई के लिए ताला खुलता है। उसे देख-देख वह मुस्कराता है। ज्यादा-से-ज्यादा समय देता है उसे व्यवस्थित रखने मे। भगवान् के दर्शन करने मे तो मन नही टिकता, पर ड्राँइगरूम को देखने मे मन खूब टिकता है। दस-पन्द्रह मिनिटो तक बार-बार देखता रहता है, मुस्कराता रहता है कि इसको कैसे सजाऊँ? इस चीज को

क्या लगाऊँ? इसे कहाँ जमाऊँ? वहाँ मन उछल-कूद नहीं करता। वहाँ मन घबराता नहीं। बाहर आना नहीं चाहता। मुनि के ध्यान करने के क्षणों में तो मन चाहता है कहाँ चला जाऊँ, यहीं से भागूँ।

सेठ ने कहा—किसको सजाया और किससे सजाया? मकान को सजाया। मकान क्या है? ईंट, चूना, पत्थर का संयोग। यह पृथ्वी का है, आग का है, वायु का है, वनस्पति का है। पाँच स्थावरों के संयोग से निर्मित एक व्यवस्था यह है। इसमें हिंसात्मक प्रवृत्ति है।

फिर तुमने जिस दृष्टि से भी इसे बनाया हो, इसमें रहना जरूरी है किन्तु मुस्कराना जरूरी है क्या? इस दृष्टि से राग भाव को भी अधिक पुष्ट करो, ऐसा जरूरी है क्या? मुनि ने कहा—तुम क्या अपना घर कहते हो और जिसमें अपना घर रहे हो, तुमने मिट्टी को सजाया, मिट्टी से सजाया। किसको सजाया? मिट्टी को और किससे सजाया? मिट्टी से। फर्नीचर क्या है? वनस्पतिकाय का कलेवर है। फर्नीचर जितना भी बनेगा किससे बनेगा? वनस्पतिकाय से बनेगा। तो वनस्पतिकाय के कलेवर से चेतनचन्द्र मुस्कराये। कौन मुस्करा रहा है? यह चेतन मुस्करा रहा है। सच्चिदानन्द मुस्करा रहा है। जड़ को सजाया जड़ से सजाया और चेतन मुस्कराया, यही तो मिथ्यात्व है। इसी का नाम मिथ्यात्व है। इसी का नाम बाह्य आत्मा है। इसका नाम है शब्द से दृष्टि का व्यामोह, इसीलिए बाहर से उपयोग नहीं हटता।

बाहर से उपयोग हटाये बिना अंतर में उपयोग जमता नहीं है। क्यों नहीं जमता? इसलिए कि उसकी दृष्टि में तो क्या महत्त्वपूर्ण है, वहाँ ध्यान योग्य है, वही ध्यान योग्य है। उसे तो यह बार-बार दिखता है। क्या दिखता है? इस तरह राग भाव पुष्ट होता है। जहाँ राग भाव पुष्ट नहीं होता वहाँ उसे आनन्द नहीं आता। क्षुधा की निवृत्ति तो आयम्बिल के भोजन से भी हो सकती है। क्षुधा की निवृत्ति तो हो जाती है किन्तु मन की संतुष्टि नहीं होती। इसीलिए आयम्बिल करना कठिन है। रूखा तो कोई नहीं भाता। एक श्रावक ने कि महाराज आयम्बिल के दिन तो नहीं खाते। दो-चार दाने एक पुलका पानी से उतार जाते हैं। कोई कहता है—बाप रे, मैं खाना फिर भी खा लेता हूँ। चावल खाऊँ तो उबकी आ जाए। वैसे तो अच्छा भोजन लिया जाता है और इसलिए उसे मन-पसन्द की वस्तु खाता है तो उबकी आ गई, क्या बात है? क्यों? पेट भर सकता है किन्तु बिना स्वाद का भोजन खाना हो तो मन नहीं भरता। मन नहीं भरता क्योंकि उससे राग पुष्ट नहीं होता।

राग पुष्ट क्यो नही होता कि जिह्वा इन्द्रिय को सन्तुष्टि नही मिलती। जिह्वा इन्द्रिय को सन्तुष्टि मिले इससे पहले आँख नकार देती है कि उसे रग-रूप ही पसन्द नही आया। पेट तो भर गया। यदि किसी के यहा ऐसा भोजन करना पडे कि जिसमे मिर्च-मसाले और अधिक तेल-घी का पुट न हो। यदि उस साग की रौनक न हो और व्यक्ति रोटी खा कर उठ गया तो क्या कहता है—'अजी पेट भरने को भर लिया, पर तृप्ति नही हुई'।

अध्यात्म, या ज्ञान-विज्ञान की बाते करना आसान है, किन्तु हम टटोले अपनी मनोभूमि को कि राग के साधनो मे राग पुष्ट हो, ऐसे पदार्थो मे, ऐसे निमित्तो में, ऐसे सयोगो मे हमे कितनी खुशी होती है। जहाँ राग को पुष्टि न मिले, वहाँ तो कहता है ले जाओ, ले जाओ, नही चाहिये, नही चाहिये। खाने के जितने पदार्थ है, जिन पदार्थो मे हमारा राग पुष्ट होता है, उनको हम स्वीकारते है जिन पदार्थो के प्रति हमारा महत्त्व नही है, उन्हे हम नकार देते है।

एक थाली मे चार चीजे है। दो को हम पसन्द करते है, दो को पसन्द नही करते। यदि उनमे स्वास्थ्य की दृष्टि है या त्याग की दृष्टि है तो बात अलग है। स्वास्थ्य की दृष्टि से यदि किसी पदार्थ के लिए कोई व्यक्ति मना करता है तो यह उसकी आवश्यकता है, यह उनकी अनिवार्य भूमिका है। शारीरिक परिस्थिति है। उसके त्याग है इसीलिए वह मना करता है तो भी बात समझ मे आती है, किन्तु जब कोई न शारीरिक दृष्टि से मना करता है, न त्याग-दृष्टि से मना करता है, न त्याग-दृष्टि से पदार्थ को निकालता है बल्कि इसलिए निकालता है कि मुझे वह चीज पसन्द नही है, पसन्द नही है अर्थात् उसकी जिह्वा को उससे तृप्ति नही है तो फिर उसका यह फैसला चिन्ता का विषय है।

जिनमे राग न आये, ऐसे पदार्थो को तो यह जीव पसन्द ही नही करता और वीतराग धर्म की बाते खूब बढ-चढकर करता है। कितना विरोध है? जिन पदार्थो मे इसके राग को पुष्टि नही मिलती उन्हे यह स्वीकारता ही नही है। मकान इसीलिए तुडवा देता है। जमीन पहले से बनी है, और उस पर इसका कोई नियन्त्रण नही है, नही तो यह उसे भी तुडवा कर फिर से बनवाता।

वीतरागता की चर्चा हम कितनी ही करे, किन्तु क्या हमारा मन जरा भी सँभल पाया है, या सँभलने की तैयारी इसकी कुछ बनी है? ज्ञानी कहते है कि 'जो सतर्क रहता है, जो सावधान रहता है, जो अप्रमत्त और जागृत रहता है वही यह विचार करता है कि मै क्रोध की भाषा न बोल बैठूँ, मान की भाषा न बोल जाऊँ, माया की भाषा मेरी जिह्वा पर न आ जाए, ईर्ष्या की भाषा न बोल जाऊँ।

इस तरह जो सावधान/सतर्क रहता है होशियार/चौकस चलता है ज्ञानी उसे ही 'सयाना' कहते हैं क्योंकि इस मनोजगत में सारे भाव उपस्थित व मौजूद हैं जिनमें से एक न एक हमें दबाये रहता है। जब हर समय कोई-न-कोई भाव हमें दबाये रहता है तब निःसन्देह यह आत्मा विभाव में ही रहता है इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि स्वयं सतर्क बने रहना!! किन्तु सतर्क बने कहां? पूरे जमाने में मकान बनाने में सामान खरीदने में! कहां? हम पैसे की कोई चीज भी यदि हमें लेनी होगी तो हम दस दुकान घूमेंगे, इसमें खबरदार हैं, किसी की सह या दल से सतर्क हैं किसी को नुकसान पहुँचाने में सतर्क हैं। सतर्क कई जगह है। अच्छे वस्त्र पहिन कर चलने में सतर्क हैं। लाखों की ज्वेलरी पहिनने में हमारा मन सतर्क है।

किसी एक बहिन ने मुझसे कहा मैं छः घण्टे लगातार बाजार घूमी, लेकिन एक मिनिट को भी मेरी नजर अपनी हीरे की चूड़ियों पर से नहीं हटी बहनों! कितनी चौकस है यह बहिन!! क्या है? क्या महत्त्व है इस सावधानी का? क्या मूल्य है इस सावधानी का? समझ में आ रहा है? सिर्फ हीरे की दो चूड़ियाँ। बीस हजार रुपयों की दो चूड़ियाँ। यदि इन दो में से कोई एक भी गिरी या गुमी तो? बस इसलिए यह सतर्कता है। और कोई वजह नहीं है। वह बहिन सब देख रही है मन को देख रही है मन से बातें कर रही है खा-पी रही है किन्तु नजर उनकी चूड़ियों पर है।

ज्ञानी क्या कह रहे हैं वे कुछ और ही कह रहे हैं—बाहर से उपयोग हटा। भीतर की ओर मुड़। मतलब है बाहर से मन को खींच कर उसे भीतर जानना। उनका यह प्रस्ताव अटपटा लगता है। समझ में ही नहीं आता कि यह 'बाहर का उपयोग' और 'भीतर का उपयोग' क्या बला है? शास्त्र में समझने की कोई भूमिका ही नहीं है अतः यह बात समझ में ही नहीं आती कि राग को आखिर तोड़ना कहाँ से है और उसे जोड़ना कहाँ/किससे है?

वीतरागाय नमः। वीतराग धर्म निर्ग्रन्थ धर्म सर्वज्ञप्रणीत धर्म ये सारे शब्द परम्परा ने हमें पकड़ा दिये हैं और हमारी स्मृति ने इन शब्दों को जोर से बैठा लिया है इसलिए कहते हैं—हम किसके उपासक हैं? वीतराग के। पर वर्तमान में यदि मुझ कोई पूछे तो ऐसा लगता है कि हम राग के उपासक हैं क्योंकि जिसको पसन्द करें, हम उसी के उपासक हैं। उपासक किसे कहते हैं कि उसी को चाहते हैं, उसी के निकट बैठना चाहते हैं उसी से बोलना चाहते हैं उन्हीं पदार्थों को खाना चाहते हैं उन्हीं वस्त्रों को खरीदना चाहते हैं उसी मकान को बनाना चाहते हैं उसी शहर में घूमना चाहते हैं और उसी बाजार में जाना

चाहते है, कहाँ जाना चाहते है? जहाँ हमारा राग पुष्ट होता है। जहाँ राग पुष्ट होता है, उसे ही हम पसन्द करते है और जिसको पसन्द करते है, उसी की उपासना करते है।

बात बडी बेढब है कि 'उपासना राग की और नाम वीतराग का'। वीतराग का उपासक तो राग-भाव को घटाने की उपासना करेगा और राग-भाव को घटाने की उपासना करने के लिए राग-भाव बढे उन निमित्तो को, पदार्थों को, सयोगो को, सम्बन्धो को छोडने का प्रयत्न करेगा, किन्तु यहाँ तो टूट कर भी नही टूटते और छूट कर भी नही छूटते। छूट कर भी नही छूटते? छूट तो गये है। यहाँ जितने लोग बैठे है, सब अपना-अपना मकान छोड कर ही यहाँ आये है। कोई मकान सिर पर उठा कर नहीं लाया है। मकान का वियोग है, या नही उस समय? प्रत्यक्ष सयोग कहाँ है? मकान है, किन्तु मकान मे आप नही है उस समय। दुकान है, किन्तु दुकान मे आप नही है उस समय। परिवार है, किन्तु परिवार के बीच भी नही है इस समय। घर मे नामालूम कितना सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, नामालूम कितनी-कितनी धातुएँ है, किन्तु उन सब का खुद सयोग है क्या? नही है। कहाँ बैठे है अभी? बाहर से हम कहाँ बैठे है? मार्केट मे बैठे है, महावीर चौक मे बैठे है, पण्डाल मे बैठे है, दरी पर बैठे है, किन्तु मन मे किन्हे बैठा रखा है? मन मे कौन-कौन बैठे है, दुकान बैठी है, मकान बैठा है, परिवार बैठा है, धन बैठा है, सम्पत्ति बैठी है। अन्दर सब बैठे है। बाहर कोई दिखायी नही दे रहा है। अन्तरग मे सब कुछ है। उपयोग मे सब कुछ है। लक्ष्य मे सब कुछ है। बाहर बहुत कम है। बाहर कुछ नही है, किन्तु भीतर बहुत है, सब कुछ है। धारणा मे सब कुछ है। किसी चीज को भी भूल कर यहाँ बैठे हुए हममे यदि कोई कह दे कि कमरे मे अमुक चीज कहाँ रखी है, तो उसी समय क्षण-भर मे उपयोग बता देगा कि वहाँ रखी है, क्योकि वे यहाँ बैठे है सब। कही गये नही है।

एक बार एक राजा ने किसी सन्त से निवेदन किया कि 'आप मेरे यहाँ आये। मैं आपकी भक्ति करना चाहता हूँ। मुझे एक प्रश्न पूछना है।' उसने सोचा प्रश्न पूछने के लिए जाने का अवकाश मिले-न-मिले, तो फिर घर पर ही आमत्रण दे दूँ और आमन्त्रण के प्रसग मे प्रश्न भी पूछ लूँ। सन्त से कहा कि तुम मेरे राज दरबार मे चलो और वहाँ चल कर मुझे कुछ लाभ दो। आहार का लाभ भी देना और सत्सग का लाभ भी। सन्त पहुँच गये। भोजन भी कर लिया। जो भोजन कराया, वही किया। फिर मेजबान ने कहा कि यही एक उपवन के किसी मकान मे आप रह जाइये। वहाँ विश्राम कर लीजिये, किन्तु इस बीच भी राजा को प्रश्न पूछने का अवकाश नही मिला। दूसरे दिन फिर प्रार्थना की कि

आप उन्हें भी कभी निरखिए। दूसरे दिन भी कि आज भी नहीं निरखिए। तीन दिन के बाद उस भक्त ने कहा कि अब तो हम निश्चिन्त जाएँगे। तब वह सोचने लगा कि प्रश्न पूछने का तो मुझे अवकाश ही नहीं मिला। हम सब राजा के अवकाश-जैसा अवकाश लगा है। प्रश्न पूछने का अवकाश नहीं है? अपने-आप से पूछने का अवकाश नहीं है, जगत् से पूछने का अवकाश है। जगत् की खोज का अवकाश है। जगत् को बुरा कहने का अवकाश है। जगत् को अच्छा कहने का अवकाश है। जगत् के रंग रूप की परीक्षा करने का अवकाश है। किसी के सम्बन्धों में क्या कहें यह बताने का अवकाश है। पर अपने लिए अवकाश नहीं है कि स्वयं स्वयं से बात करें। किस रूप में करें? मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? इस आत्मानुसंधान के लिए अवकाश नहीं है, समय नहीं है।

एक दिन के कितने घण्टे? चौबीस। एक घण्टे का मिनिट कितना? साठ। चौबीस घण्टों के मिनिट कितने हुए? एक हजार चार सौ चालीस। कितने मिनिट हुए एक दिन के? कितना समय है हमारे पास? एक मिनिट कब पूरा होता है? मैं यहाँ से मार्केट गेट पर पहुँचता हूँ तब यहाँ एक मिनिट पूरा होता है यानी यहाँ से वहाँ पहुँच जाऊँ और वहाँ से उन सब को भी पार कर दूँ इतनी दूर पहुँच जाऊँ तब कहीं एक मिनिट पूरा होगा। यह ध्यान में इसलिए आया कि सवा आठ बजे से मेरे मन में हलचल हो जाती है कि चलो, जल्दी चलो। किस लिए कि एक आग्रह बन गया है कि ठीक साढ़े आठ बजे से दो मिनिट पहले पहुँचना। तो दो मिनिट पहले पहुँचने के चक्कर में कई बार पाँच मिनिट पहले ध्यान छोड़ देता हूँ। ध्यान छोड़ देता हूँ और रास्ते में पूछता हूँ कि अभी तो पाँच ही मिनिट हुए हैं यहाँ तक आने में। जब यहाँ तक आने में इतने-सारे मिनिट लगते हैं तो मार्केट गेट तक पहुँचने में कितना वक्त लगेगा?

कितना समय है हमारे पास!! एक दिन १४४० मिनिट, २४ घंटे पूरा एक दिन और पूरी एक रात। कितना लम्बा काल है हमारी मुट्ठी में। यदि पूरी जिन्दगी का हिसाब लगायें, जितने वर्ष हम जिन्दा रहें उतना का हिसाब लगायें तो लगेगा कि कितना पुष्कल हमारे पास था और कितना आगे हमारे पास रहेगा? क्या इतने समय में एक बार भी विकल्प हमारे मन में आया कि 'मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या मैं शरीर हूँ? क्या दुनिया की नजर में जो मैं हूँ वही असली मैं हूँ या इससे भिन्न कुछ और हूँ?'

सच यह है कि मैं कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? इन प्रश्नों के लिए हम लोगों के पास कोई अवकाश ही नहीं है। कितना आश्चर्यजनक है कि यह उलटा

हुआ है इस या उस में!! विकल्प-ग्रस्त यह, कभी इसके दुःख को याद करता है, कभी उसके दुःख की फिक्र करता है, कभी इसके आराम की बात सोचता है तो कभी उसके आराम की, कभी इसकी याद करता है, कभी उसकी। कभी सोचता है उसका चेहरा उदास था। आज वे नाराज दिखाई दे रहे है। आज मैंने उनकी क्षति-पूर्ति नहीं की। आज वे मुझसे नाराज हो जाएँगे क्योंकि कपडे धुल कर नही आ सके। आज धोबी नहीं आया। कल उसे धमकाना होगा। कभी सोचता है—आज सब्जी नही बनी। आज आटा पिस कर नही आया है। आज लकड़ी खत्म हो गयी। आज घी मँगाना है। आज तेल मँगाना है। आज रात सो नही सका हूँ। आज सोने मे देर हुई है। कितने विकल्प घेरते है इसे!! और भी, जैसे आज मुझे उठने मे देर हो गयी, आज मुझे उनसे मिलने जाना था, आज मेरी पेशी थी। एक ही दिन मे नामालूम कितने विकल्प इस प्राणी को आते है—कभी परिवार के, कभी समाज के, कभी राष्ट्र के, कभी अखबार के, कभी पडौसी के, कभी घर के, कभी आँगन के, कभी छत के, कभी नल के बिल के, कभी बिजली के बिल के। ऐसे सारे विकल्प/सारे विचार आते है इस जीव को। यह जगत् से जुडता है, वस्तुओ से जुडता है, सत्ता-सम्पत्ति से जुडता है, किन्तु 'मै कौन हूँ' यह विकल्प क्या कभी परिक्रमा देता है उसके इर्द-गिर्द? यह विचार आता है क्या कभी? और यदि यह विकल्प नही आया तो क्या वह मनुष्य-जन्म पा कर करने योग्य कुछ कर पायेगा? करने की बात दूर, अभी तो विकल्प आने की बात है। नही आ रहा है। कौन-सा विकल्प नही आ रहा है? 'मै कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? क्या स्वरूप है मेरा?' (हूँ कौन छूं? कया थी थक्यो? शुं स्वरूप छे म्हारो खरो?—देवचन्द्र) यह विकल्प नही आ रहा है।

वर्तमान मे मेरा जिनसे सम्पर्क है, जिनसे सम्बन्ध है, जिन पाँच इन्द्रियों के विषयो मे मेरी आत्मा रमी हुई है, वह सब बन्धन है। ममत्व का, राग का द्वेष का बन्धन है। कैसा बन्धन है यह? यह त्याग करने योग्य है, खोने योग्य बन्धन है?

जब तक यह भाव नही आ रहे है तब तक देवचन्द्रजी महाराज के भावो के अनुरूप भाषा कैसे बोलेगा? कौन-सी भाषा? **प्रीति अनन्ती पर थकी जे तोडे होते जोड़े एह।** पर को पर समझा नही, निज को निज समझा नहीं। जीव को जीव नही समझा, अजीव को अजीव नही समझा, सत्य को सत्य नहीं समझा और असत्य को असत्य नही समझा, ऐसी स्थिति मे यह करेगा क्या? क्या विवेक आयेगा, क्या सोचेगा, क्या समझेगा, क्योंकि अभी तो अभेद बुद्धि है। अभेद बुद्धि किसमे है? शरीर मे अभेद बुद्धि है। शरीर से जो सम्बन्धित है, उनमे अभेद बुद्धि है। मै और मेरे विचार उन्ही के बीच है। अपने-आप से प्रश्न करे, अपने-आप से पूछे। इसके लिए अवकाश नही है। अवकाश क्यो नही है? दिमाग मे यह बात आयी ही नही है।

राजा ने कहा तो लिया संत को पूछने के लिए अवकाश नहीं है। आप मानेंगे राजा ने आमन्त्रण भी दे दिया और आमन्त्रण देने के बाद पूछने का अवकाश भी उसे नहीं मिला। हमें आपको और हमें भी तो नहीं मिला है कोई नयी बात है इसमें कि राजा को नहीं मिला। यदि मिला है तो उसने कितनी बार प्रश्न किया अपनी आत्मा से? उस राजा ने सोचा कि मुझे समय तो नहीं मिला और अब संत नहीं रहेंगे तो कम-से-कम जब ये जा रहे हैं तो इन्हें छोड़ आऊँ। जैसे ही यह छोड़ने गया संत ने नहीं कहा कि तुम वापिस जाओ, बहुत दूर आ गये हो। संत आगे बढ़ रहे हैं राजा उनके पीछे चला जा रहा है। मन में बार-बार सोच रहा है कि वे कब कहें कि 'चले जाओ राजा कब यह दें कि चले जाओ जाओ। थोड़ी व्यावहारिकता थी थोड़ी आत्मीयता थी राजा में इसलिए उसने सोचा कि जब तक संत कहें न कि लौट जाओ तब तक लौटूँगा नहीं। लेकिन वे भाव तो आ रहे हैं किन्तु लौट कह नहीं रहा है। मन तो लौट रहा है किन्तु शरीर नहीं लौट रहा है। चलता जा रहा है। इसी लिए मन भी यह चाहता है कि जब तक संत न कहें क्या लौटूँ? चलते चलते बहुत दूर हो गया। इस बीच राजा ने प्रश्न भी कर लिया। कर लिया कि बतायें कृपया कि आप में और मुझमें अन्तर क्या है? राजा ने सोचा कि अन्तर तो जान लूँगा किन्तु मन बहुत चुका हूँ। शहर का रास्ता छूट गया है जंगल झाड़ियों में निकट पहुँच गया हूँ। उसका मन घबराया। पीछे दृष्टि डाली तब देखा कि सब कुछ बहुत दूर रह गया है बहुत दूर रह गया है। कहने लगा- संत बस अब मैं जाता हूँ क्योंकि सब कुछ बहुत पीछे छूट गया है। क्या पीछे छूट गया है? संत ने सहज ही पूछा। 'अरे सन्त आपको क्या पता? मेरा आवास पीछे छूट गया मेरी महारानियाँ पीछे रह गयीं मेरा राजकाज कारोबार पीछे रह गया। और-तो-और अपनी सीमा छोड़ कर ही मैं बाहर आ गया हूँ।

संत ने कहा, तुमने मुझसे कुछ समय पहले प्रश्न किया था कि तुममें और मुझमें अन्तर क्या है? अन्तर यही है कि तुम जंगल में हो पर मन तुम्हारा भवन में है और मैं भवन में था पर मन मेरा भवन में नहीं था। क्या? बाहर हो कर भी उपयोग तुम्हारा कहाँ है? वहाँ है जहाँ सब कुछ तुम छोड़ आये हो। उपयोग यहीं है। बाहर बाहर उपयोग है। भाई क्या कह रहे हैं- बाहर से उपयोग हटाओ और उसे भीतर की ओर मोड़ो। जब भेद बाहर और भीतर में स्वरूप का नहीं समझोगे, तब तक शरीर में आत्मबुद्धि रहा जायेगी तब तो पर - उपयोग का कर सोचना और कम आत्मा में आत्मा का उपयोग जायेगा। प्रश्न काफी बड़ा है यदि हम चिन्ता करें तो क्योंकि अवसर यह मनुष्य जीवन का है दुर्लभतर।

—इन्दौर १ सितम्बर १९८१ □□

३. श्रवण : चिन्तन : मनन

एक समय जब किसी सन्त से किसी व्यक्ति ने सत्य की चर्चा सुनी तब सुनने के उन स्वर्ण-क्षणों में वह बहुत कुछ सावधान हुआ, जागा और सावचेत हुआ। उसके श्रवण-क्षण चिन्तन में बदल गये और चिन्तन क्रमशः मनन में। मनन ने मन को एक स्वस्थ करवट दी तो सन्त के चरणों में नमस्कार करते हुए उसने कहा- महाराज, आज तक मैंने जितना समय व्यतीत किया, मेरी जिन्दगी के जितने वर्ष बीते, उनमें मैंने कभी इस दृष्टि से एक शब्द भी सुना हो, उस पर कोई विचार किया हो, ऐसा मुझे याद नहीं पडता। धुन तो रही, किन्तु धुन में कभी कोई अध्यात्म दृष्टि नहीं आयी। जिन्होंने आत्मा के स्वरूप को, शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त किया है, उनके प्रति भी मेरे मन में कोई बहुमान नहीं आया। मेरे मन में तो सदैव एक ही धुन चलती रही कि ज्यादा-से-ज्यादा धन कैसे कमाऊँ?—'भज कलदारम्, भज कलदारम्, भज कलदारम्' की धुन चलती रही और जिन्होंने अपने आपको इस धुन में आगे बढाया, उठाया उनके प्रति भी मेरी दृष्टि बराबर लगी रही। मैंने ऐसे ही व्यक्तियों को महत्त्वपूर्ण माना, उन्हीं को बडा समझा। मेरी नजर में वे ही अपने-आप में बहुत आगे बने रहे। जितना समय मेरा व्यतीत हो गया, अब मुझे लगता है कि मैंने उसे बिना समझे अकारथ खो दिया है।

सन्त ने जवाब दिया—'जितना समय गया, जैसे भी गया, गया। गये के गीत यदि गायेगा तो उससे भला क्या लाभ होगा? गया समय तो कभी हाथ आ नहीं सकता और जिस-जिस समय में हमारी जो-जैसी प्रवृत्ति रही है, उसे ले कर अब इतना ही हो सकता है कि हम उन बुरे कामों का त्याग कर दें, उन प्रसंगों का स्मरण कर उन पर पश्चात्ताप करें, भीगी आँखों से प्रायश्चित्त करें, तो ही पूर्व के बाँधे हुए प्रगाढ कर्म शिथिल पड सकते हैं। संक्रमण हो सकता है।

सन्त ने आगे कहा—'जो समय बीत गया, उसके गीत गाने से कोई लाभ नहीं। यदि समझ आयी है, विवेक आया है और तुमने अपनी जिन्दगी के अर्थ को समझा है और

माना है कि अब तक का समय तो व्यर्थ गया अब सोचो कि क्या सार्थक कर्म हो? व्यर्थ गया सो गया। उस अर्थहीनता में न जाओ। अब योजना करो कि जो समय हमारी मुट्ठी में है वह फिसल न जाए। गलत ढंग से जिन्दगी जीने में न जाए। वह किसी को ठोकर लगाने में न जाए। वह किसी का दिल दुखाने में न जाए। वह किसी की आँखों में आँसू लाने में न जाए। वह किसी का घर-द्वार ढहाने में न जाए। वह किसी के अधिकार छीनने में न जाए। वह किसी भी शक्ति को बढ़ती हुई देखकर जलने में न जाए। जो समय गया सो गया किन्तु जो समय सामने है उसका इस प्रकार व्यतीत करो कि उस समय की सार्थकता बने। सार्थकता धन्धे में नहीं होगी। सार्थकता केवल भोजन में भी नहीं होगी। सार्थकता केवल गीत गाने से भी नहीं होगी। जहाँ मन करवट लेगा वहाँ से हमारी सार्थकता की यात्रा का आरम्भ होगा।

सन्त ने कहा— जिज्ञासु यदि तुम्हारे में जिज्ञासा पैदा हुई है तो चल पड़ो। दिशा बदल लो और दिशा बदलने के लिए अपने भाव बदल दो। भाव बदलने के लिए अपने सोचने का ढंग बदल दो। समझने का ढंग बदल दो। दृष्टि में परिवर्तन कर दो। और जब दृष्टि परिवर्तित हो जाएगी विचारों में परिवर्तन हो जाएगा तो सोचने-समझने का ढंग भी बदल जाएगा। सोचने-समझने का ढंग बदल जाएगा तो निश्चित रूप से जिस प्रकार अभी तक विचार चलते थे अभी तक तुम्हारे मन में जितना घुन था, कमाने के ढंग में जितनी गलत प्रवृत्तियाँ थीं उन सब से तुम अपने-आप को बचा लोगे।

वह कहने लगा— प्रभो आपका कथन तो सत्य है। आपका कहना तो ठीक है लेकिन मुझे तो लगता है कि मेरी उम्र आज पचास के निकट है। मेरा यह समय व्यर्थ बीत गया। पचास वर्ष बाद मैं प्रारम्भ कर रहा हूँ। सोचता हूँ, इतने समय में मैं कितना कर चुका होता!! इतने समय में कितना कर लेता, यह सोचना भी अपने-आप को भुलावा देना है। कर क्या लेता, क्योंकि समय तो हाथ में नहीं है। सन्त ने कहा— मुझे ऐसा लगता है अब भी तू करने का केवल गीत ही गायेगा, किन्तु करने के भाव नहीं आयेंगे। यदि तू करने का गीत गाता रहा, 'कल-कल' करता रहा तो कुछ हो नहीं पायेगा।' अधिकांश व्यक्तियों की कमजोरी होती है कि किसी भी शुभ प्रवृत्ति को, किसी भी अच्छी प्रवृत्ति को करने के लिए सोचा भी तो कहता है कि कल इसे चालू कर देंगे यथा— सामायिक चालू करेंगे, नवकारसी का पच्चक्खान चालू करेंगे, दान देना चालू करेंगे, पूजा करना चालू कर देंगे ऐसे विचार आते हैं, किन्तु ऐसा काम कर डालूँ यह विचार बहुत कम लोगों को आते हैं।

४ व्यक्ति अच्छे कार्यों को कभी करना नहीं चाहते, जिनका विशेष आग्रह है। बहुत से व्यक्तियों की स्थिति तो यह होती है कि कल-कल करते काल आ जाता है, किन्तु कल कभी आते भी नहीं देखा। कल के गीत हो सकते हैं, कल का गान हो सकता है किन्तु इससे उसका जीवन नहीं बन सकता। जीना कहा जाता सो यहाँ-नहीं सो

प्रारम्भ करता है, शुरुआत करता है। जब शुरुआत करता है तो उसे उसका लाभ मिल जाता है।

सन्त ने कहा—'बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेय' फिर भी यह मन इतना सोच कर भी, इतना समझ कर भी बदले यह बहुत मुश्किल है। यदि इस प्रकार विचार करता रहा तो जो बीत गयी वह तो बीत गयी, किन्तु जो है वह भी बीत जाएगी। जो है वह बीत जाएगी, उसके बाद क्या होगा? बहुत गयी, थोडी रही और थोडी भी अब जाने को हुई। यह दुर्लभ मनुष्य-जीवन-'देवानामपि दुर्लभ' मनुष्य-जन्म। सर्वोच्च यह मनुष्य-जीवन आपको, मुझको, सबको मिला है। मिला ही नही है, इसका बहुत कुछ हिस्सा बीत गया है। किसका कितना समय बीत गया, हर व्यक्ति को वह मालूम है, अब कितना बीतेगा, यह किसी को नही मालूम, किन्तु कितना बीत गया, यह तो मालूम है। किसी के चालीस बीत गये, किसी के पचास, किसी के साठ, किसी के पैंसठ और किसी-किसी के सत्तर भी बीत गये। बहुत गयी थोडी रही। बहुत गयी और थोड़ी रही, और जो रही वह नमस्कार कर रही है, प्रति पल, प्रति समय, प्रति श्वास जिन्दगी जा रही है। वह रुक नही सकती। किसी की ताकत नही कि उसे रोके। तीन लोक की सम्पत्ति भी रोकने मे समर्थ नही। जगत् का वैभव उसके चरणो मे झुक जाए तो भी मृत्यु कभी एक क्षण-भर के लिए भी इधर-से-उधर होने वाली नही है। हम जिन्दगी मे कितना भी बटोरे, किन्तु इस बटोरने मे वह शक्ति नही है कि मृत्यु के क्षणो मे किसी को बचा ले। निश्चित रूप से 'हमारी बहुत गयी है' यह मानना चाहिये। यदि मेरी पचास वर्ष की उम्र हो तो मुझे मान कर चलना चाहिये कि चालीस वर्ष आ रहे हैं, तो बहुत गयी। और आज के युग मे तो साठ वर्ष की उम्र सोच कर चलना चाहिये, बाकी तो पता नही कि किसकी साँस कब रुक जाए? कब किसकी आयु पूरी हो जाए, फिर भी एक सामान्य दृष्टि से हम विचार करे तो साठ-सत्तर वर्ष से अधिक उम्र की आशा हमे नही रखनी है। साठ-सत्तर वर्ष की उम्र मे यदि चालीस और पचास वर्ष पर आ गये तो निश्चित रूप से बहुत गयी, थोडी रही। उस थोड़ी को सम्भालना है। इस थोडे से समय को सम्भालना है।

यदि व्यक्ति का विवेक जागरूक हो जाए तो थोडे ही समय मे वह काम हो सकता है जो तमाम जिन्दगी मे नही हो पाया। ऐसा होता है। आप कहेगे, कैसे? विद्यार्थी-जीवन मे से गुजरने वाले या विद्यार्थी-जीवन जीने वाले जानते है कि एक वर्ष मे सात-आठ महीने वे पढाई करते है, आठ-दस महीने पढाई करते है, किन्तु परीक्षा के दिनो मे ही असली परिश्रम करते है, लगन से पढते है, एकाग्रता से अध्ययन करते है। यदि सही पूछा जाए तो परीक्षा की तैयारी पूरे मनोयोग से केवल दस-पन्द्रह दिनो मे ही होती है, पूरी लगन के साथ। जैसे-जैसे समय नजदीक आता है, वैसे-वैसे पढने मे मन एकाग्र होता जाता है। सब तरफ से कट जाता है। एक धुन लग जाती है। धुन-पूर्वक

जब वह पढ़ाई होता है तो हर पाठ का सारांश, मुख्य अंश दिमाग में आ जाता है। परीक्षा के समय वह कहता है कि मैंने यह तो पाठ कल ही तैयार किया था परसों ही तैयार किया था। एक सप्ताह पहले तो मैंने इस पृष्ठ को कभी खोल कर भी नहीं देखा। बहुत प्रसन्न होता है बहुत खुश होता है क्यों? जब वह यह अनुभव करता है कि पिछले दिनों की तैयारी मेरे काम आ गयी। काम आ जाता है क्यों? जब कम समय में काम अधिक लगन से होता है तब कम समय में काम अधिक स्फूर्ति से होता है तब।

तो हम यह भी क्या सोचें कि हमारा कितना काल बीत गया और कम बीत गया? जैसे भी बीतना था बीत गया किन्तु अब थोड़े समय में हम लगनपूर्वक, निष्ठा-पूर्वक धुन पूर्वक यदि आत्म-कल्याण के मार्ग में आगे बढ़ जाते हैं तो मानिये पूरी जिन्दगी में जो हम नहीं कर पाये, उससे अधिक कर लेंगे बल्कि उससे ज्यादा कर लेंगे। लेकिन कर कब लेंगे? जब हमें धुन लग जाएगी। धुन अलग ही होती है। धुन में एक लगाव होता है। धुन में एक आकर्षण होता है। हर समय एक ही भाव चलता है। व्यापारी से पूछो हर समय कमाने की धुन चलती है या नहीं? कभी बेचने के भावों की धुन है कभी खरीदने के भावों की धुन है। जो भाव हैं उसमें धुन चलती रहती है, उसकी चलती रहती है चौबीसों घण्टा। खाता भी है पीता भी है सोता भी है बैठता भी है, मित्रों से मिलता भी है, व्यावहारिकता भी निभाता है फिर भी वह चलती है, जिन्दगी के सारे काम करता है किन्तु साथ में व्यापार की धुन उसके मस्तिष्क में चलती ही रहती है हर पल। जो आगा-पीछा सोच कर कार्य करता है वह लाभ-ही-लाभ में आता है क्योंकि उसकी धुन चलती है पूरी लगन से पूरी निष्ठा से।

कितने ही लोग हैं जो कहते हैं महाराज अभी चाह कर भी हम नहीं गुरु पास हैं, क्योंकि हमारे व्यापार का सीजन है। व्यापार के सीजन में व्यक्ति व्यापार की उपेक्षा नहीं करता। मनुष्य जिन्दगी आत्म-कल्याण का सीजन है यह विचार कहाँ आता है उसे। और यह विचार आ जाए तो क्या वह दूसरी प्रवृत्तियों में उलझ जाएगा, भटक जाएगा? नहीं भटकेगा, कितना ही आप कहें उसे? कपास के व्यापारी कहते हैं कि हमारा सीजन है। खाना भी बेसमय खा सकते हैं नहा भी बेसमय ले सकते हैं। सब प्रवृत्तियाँ छोड़ सकते हैं। घर भी छोड़ सकते हैं परिवार भी छोड़ सकते हैं। सब छोड़ कर दौड़ते हैं कि साहब अभी तो और कुछ दिखायी नहीं देता। अभी तो व्यापार की जो व्यवस्था है उसी में दिमाग घूमता है। बारह एक बजे तक वहाँ स्थान व्यवस्थित कर, दो बजे सो कर सात आठ बजे उठते हैं। व्यापार में अठारह घण्टे दे डाले क्योंकि बहुमान है लगाव है धुन है किस बात की? कि सीजन है।

सन्त कहते हैं जैसे एक कमाने का सीजन जो अनन्त काल में अनन्त बार आयेगा, जब भी जन्म होगा आयेगा जब भी जीवन मिलेगा तब यह मिलेगी किसी-न किसी रूप में, किन्तु आत्म-कल्याण की 'सीजन' सिवाय मनुष्य जिन्दगी के बिना

दूसरी ज़िन्दगी मे नही । पर ये शब्द तो व्यक्ति केवल सुन कर रह जाता है । ये शब्द तो केवल कानो को टकरा कर रह जाते है । इन शब्दो के पीछे कोई प्रियता नही है, कोई भाव नही है । व्यक्ति का यदि उन शब्दो के प्रति आकर्पण हो तो उनकी धुन लगे और धुन लगे तो ऐसी लगे कि ।

वास्तव मे जिन्होंने आत्मस्वरूप को समझा या जिनमे आत्म-कल्याण की रुचि जागृत हो गयी उनकी धुन तो ऐसी चलती है कि अब जितना समय है, आत्म-कल्याण के लिए ही बटोर लूँ । जितना समय है उसको एक ही प्रवृत्ति मे लगा लूँ । जरूरी-जरूरी कामो को कर के तुरन्त लौटता है, वह इस धुन मे । परीक्षा के दिनो मे परीक्षार्थी खाना नही खाता है, पानी नही पीता है । यद्यपि खाना, पीना, सोना, स्नान सब करता है फिर भी सब तरफ से 'कट' करता है समय को । सब तरफ से समय को बचाता है । कहीं-न-कहीं उसकी लगन है कि 'ज्यादा-से-ज्यादा पढाई मुझे करनी है ।' ज्यादा-से-ज्यादा पढाई करनी है । सीजन मे ज्यादा-से-ज्यादा पैसा कमाना है, इसलिए हर तरफ से अपने-आप को 'कट' करता है । विवाह-शादी के प्रसगो मे भी बने वहाँ तक परिवार के दूसरे सदस्यो को भेजेगा लेकिन वह नही जाएगा । तुम सब जाओगे तो चलेगा पर मेरे जाने से नही चलेगा । कितना महत्त्वपूर्ण मानता है खुद को ?

मुझे याद है, कई बार दोहराया होगा कि मैने भयकर व्याधि मे भी स्मरण करते हुए देखा, रात को दो बजे तक जागते हुए देखा, आत्मस्वरूप के चिन्तन मे लीन देखा और जैसे-जैसे जिन्दगी की सध्या निकट आती गयी, वैसे-वैसे आत्म-कल्याण मे भावोल्लास बढता गया और भावोल्लास बढा तो ऐसा बढा कि नीद हराम हो गयी । एक बार नही अनेक बार पूछा कि महाराजश्री, यह क्या स्थिति हो गयी आपकी रात-दिन एक ही धुन मे लगी है आप । कहने लगी—'अब आराम का समय नही है, विश्राम का समय नही है, अब इधर-उधर झाँकने का समय भी नही है । अब तो मात्र अपने आत्म-कल्याण करने का समय है । अब तो मात्र अपनी शुद्धि का समय है । अब तो जीवन की सध्या है । सध्या के समय इधर-उधर झाँकने से क्या होगा ? अब तो जल्दी-से-जल्दी काम करना है ।' 'बहुत गयी, थोडी रही, थोडी हू अब जाय ।' थोडी भी अब जाने को है । अब समय बीतने वाला है । अब मौत की घटी बजने वाली है । काल हँस रहा है । कल के एक पद मे आया था कि काल कैसे हँसता है । वह एक व्यग्य था । काल हँस रहा है, किस पर हँस रहा है ? हम पर हँस रहा है ? हम पर हँस रहा है । हमारी अज्ञानता पर, हमारी मोहान्धता पर, हमारी आसक्ति पर, हमारी इन्द्रिय-विपयो की प्रकृति पर काल हँस रहा है, इसलिए हँस रहा है कि देखो इसे पता नही है कि अन्त मे इसे मेरे पास ही आना है । इसे पता नही कि इसे सब कुछ छोड़ना है । इसे नही मालूम कि इन सब से इसे टूटना है । यह जान कर भी अन-जान बन रहा है । समझ कर भी, नासमझ हो रहा है । यह दुनिया को उस राह पर जाते हुए देख कर भी कि 'मेरी बारी आने वाली है' विचार नही कर रहा है, इसलिए काल

मुस्करा रहा है। हमारा उपहास कर रहा है कि खेल कितना भी खेल कितना भी, नाच कितना भी, पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त बन कितना भी, व्यापार धन्धा कितना भी कितने भी अपने साथ लेबिल लगा ले—मन्त्री का लेबिल, सम्पत्ति का लेबिल किन्तु तेरा सारा परिश्रम धूलधानी राखछाना हो जाएगा उस दिन जिस दिन मैं तेरे सामने आ जाऊँगा। जिस दिन मैं तेरे सामने आऊँगा उस दिन तेरे सामने कोई नहीं रहेगा। किसी की शक्ति नहीं रहेगी, किसी का साहस नहीं रहेगा कि मेरे सामने तेरे से कोई बात भी कर सके। तेरी कोई माता पूछ सके। तुझ में कोई यह भी जान न कि तू क्यों प्रान छोड़ता नहीं?

मृत्यु आने के बाद एक बार नहीं दस बार आँख को खोलकर देखना, धड़कन को देखना। कोई ताकत नहीं। मन ही आन बाता कहे कि पिताजी, मुझे सिर्फ दो मिनिट की देर हुई आने में। वह जैसे ही आ कर खड़ा होता है परिवार के सदस्य कहते हैं अभी बात रहे थे अभी बोल रहे थे। दो ही मिनिट हुए निश्चल हुए दो ही मिनिट हुए। और वह प्रिय बेटा कहता है कि पिताजी दो ही मिनिट की देर हो गया दो ही मिनिट की देर हो गयी। एक बार आँख खोलिये कहने एक बार आँख खोलिये। एक बार दर्शन दे दीजिये। मैं कितनी दूर से आया हूँ कितनी तड़प में आया हूँ कितनी परेशानी उठा कर आया हूँ। दो मिनिट के लिए आँख खोल दीजिये।

काल कहता है अब किसकी ताकत है? अब कौन दिखा देगा, कौन देख लेगा? अब तो जिन्दगी स्वप्न हो चुकी अब तो जिंदगी समाप्त हो चुकी। हम सब उसी ओर जाने वाले हैं लगातार जा रहे हैं। हर साँस में हमारी हमारी जिंदगी हम सब उसी ओर जाने वाले हैं, लगातार जा रहे हैं। हर साँस में हमारी जिंदगी उसी ओर जा रही है। पर याद नहीं आती। खाने की याद आती है पहिनने की याद आती है रिश्तेदारों की याद आती है कमाई की याद आती है व्यापार के भावों की याद आती है। दुनिया में क्या क्या हो रहा है यह भी याद आता है। सवेरे पेपर इसलिए देखते हैं कि क्या क्या नया खबर है? क्या नये भाव हैं? क्या स्थिति है शहर की? सब की याद आती है। मन की याद और स्वयं की यात्रा याद नहीं आती। मनुष्य जिन्दगी एक पड़ाव है जहाँ से आगे फिर से यात्रा करना है। व्यक्ति को अपनी यात्रा याद नहीं आती इसलिए ज्ञानी कहते हैं दुनिया की याद करता है किन्तु याद कर किसकी याद करे? याद करे—तर कर उस दिन की याद कि जिस दिन चल चल चल होगा'। विचार कर कि हे जीव तू इतना धोखा कर रहा है किन्तु उस क्षण क्या होगा? इतना विश्वासघात कर रहा है उसका क्या होगा? इतना संघर्ष कर रहा है इतना झगड़ा कर रहा है परिवार में इतना संघर्ष बना रखा है पर बता उस समय तेरा क्या होगा? दूसरों की बस्ती देख तू कितनी जलन करता है कितनी ईर्ष्या करता है। किसी के धन को देख कर तुझे कितनी जलन होती है? किसी के परिवार को देख कर किसी की सत्ता और

दिया। अभी तक मुझे अनुशासन करने का अधिकार नही दिया तो क्या राजकीय अनुशासन का जो उत्तरदायित्व है, सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार का जो सुख है, इस जवानी मे नही भोगूँगा तो क्या बुढापे मे भोगूँगा और पिताजी यदि न मरे, उनकी अस्सी वर्ष नव्वे, वर्ष, सौ वर्ष उम्र हुई, तो क्या मै राजकुमार के रूप मे ही बूढा हो जाऊँगा ? पिताजी छोडने वाले नही, देने वाले है नही, इनके भाव वदलते नही। पिताजी, मैने तो यहाँ तक सोचा था कि कुछ दिनो मे मै आपकी हत्या कर दूं। जहाँ व्यक्ति का स्वार्थ टूटता है भाई-भाई का नुकसान चाहता है। वाप वेटे का नुकसान चाहता है। एक-दूसरे की जिन्दगी से खेलना चाहते है। जहाँ मोह टूटे, जहाँ स्वार्थ टूटे, जहाँ लोभ व्यक्ति का सन्तुष्ट न हो, वहाँ व्यक्ति इस प्रकार के विचार करे तो कोई वडी वात नही है। दु ख की खान व्यक्ति का मोह हो, स्वार्थ हो, यह अतीत की कहानी नही वर्तमान मे भी ऐसे उदाहरण है। वर्तमान मे भी ऐसे किस्से है कि पैसे के पीछे व्यक्ति क्या नही करता ? सम्वन्ध दिमाग मे नही रहते। स्नेह भी दिमाग मे नही रहता और कहाँ कौन किसके प्रति क्या सोच ले, कुछ पता नही, कव ? जव व्यक्ति स्वार्थ मे अन्धा हो जाता है, जव लोभ मे अन्धा हो जाता है।' 'वेटा, तूने यह विचार किया ? ओहो मैने तो यह सोचा कि जव तक मै वैठा हूँ तव तक वेटे के सिर पर क्यो वोझ डालूं ? उसको स्वतन्त्रता से क्यो न जीने दूं ? उसे क्यो न मनोरंजन की प्रवृत्तियो का आनन्द लेने दूं ? मैने तो सोचा था कि अधिकार के पीछे लफडे वहुत है। यह सारी जिम्मेदारी तुम्हारे सिर पर आ जाएगी तो अभी से तुम्हारी जिन्दगी का आनन्द किरकिरा हो जाएगा। ओ हो, मुझे नही पता था यह। आज ही मैं तुम्हारा राज्याभिषेक किये देता हूँ और निवृत्त होता हूँ।'

सोचने-सोचने मे कितना अन्तर हो गया। वाप के विचार क्या है और वेटे के विचार क्या है ? गलतफहमी भी वहुत होती है। अर्थ का अनर्थ भी वहुत होता है। कभी-कभी तो दूसरो के शव्द भी गजव ढा देते है। वहुत से व्यक्तियो के घर मे सघर्ष का कारण यही होता है कि आमने-सामने वात नही करते और इधर-उधर मित्रो के माध्यम से, परिवार के किसी व्यक्ति के माध्यम से वे अपनी वात वहाँ तक पहुँचाते है और वहाँ की वात स्वय सुनते है और जव कहने वाला दो-चार शव्द अपनी तरफ से जोड देता है, तोड देता है तव वही परिवार मे अशान्ति छा जाती है।

समझदारी का यह कोई प्रमाण नही है। समझदारी उसका नाम है कि जो भी वात हो, साफ-साफ हो, आमने-सामने हो। किसी तीसरे के माध्यम से न्याय कराना कोई वहुत अच्छी वात नही है। वह तो स्वय की कमजोरी है, लाचारी है, विवशता है। जो स्वय के झगडो को स्वय नही सम्हाल सकता, वह दूसरो की शरण लेता है। ले तो ऐसे व्यक्ति की ले जो निरपेक्ष हो, जो तटस्थ हो और जिसमे चिन्तन की शक्ति हो, अन्यथा वहुत अनर्थ हो जाता है। यहाँ पिता के विचारो को वेटा नही समझ पाया और वेटे के

विचारों को पिता नहीं समझ पाया। राजा कहने लगे वास्तव में कमाल किया। इस दोहे ने उद्धार कर दिया तुम्हारा। और मेरी भी हत्या को इस दोहे ने थाम लिया।

राजकुमारी से पूछा—'कहो तुम्हें क्या मिला?' राजकुमारी कहने लगी—पिताजी, मेरी उम्र चौबीस वर्ष हो गया। अभी तक आपने मेरे योग्य वर को खोजने की कोई कोशिश नहीं की। तो मुझे ऐसा लगा कि मैं इस घर में ही वृद्धत्व की ओर चली जाऊँगी। क्या तीस चालीस वर्ष इसी घर में गुजर जाएँगे तो फिर अगली जिन्दगी भी क्या होगा? इसलिए मैंने सोचा पिताजी ऐसे मेरी शादी करेंगे नहीं क्योंकि अभी तक तो वहाँ खोज नहीं की है। मुझे तो कहीं-न-कहीं स्वयं अपनी तरफ से निर्णय करके चले जाना चाहिये। 'बेटी, तूने ऐसा विचार किया?' 'हाँ पिताजी मेरे मन में तो ऐसा ही विचार आ गया था कि मुझे तो अब स्वयं-ही-स्वयं का निर्णय ले लेना है और निर्णय लेने से पहले इस घर का त्याग कर देना है।' राजा कहने लगा—मैं तो तुम लोगों की बातें सुन-सुन कर हैरान हो गया। मुझे ऐसा लग रहा था कि मेरा एकमात्र बेटा है और ससुराल जाने के बाद तो आना-बुलाना मेरे हाथ में भी नहीं है। वहाँ जाने के बाद तो इतना लाड प्यार मिल जाए बहुत मुश्किल है। माँ की जरूरत सास पूरा कर दे ऐसा मौके होती हैं पर हर सास ऐसी हो यह बहुत मुश्किल है। बेटी की बुराई को छिपा ले बेटी की बुराई को सहन कर ले बेटी की बुराई को प्रेम से समझा दे ऐसी माताएँ तो हजार मिलेंगी किन्तु बहू की गलती को बेटी की तरह समझा दे ऐसी सास बहुत मुश्किल है। इसलिए मैंने तो सोचा था कि मैं अपने घर में तुझे जितना आनन्द दे सकूँ, उतना दूँ जितनी खुशी दे सकूँ उतनी दूँ। तू एकमात्र मेरी आँखों का पुतला थी इसलिए मैंने सोचा कि जितना समय भर घर में निकल जाए, मैं अपनी पुत्री का दर्शन करता रहूँगा। उसके बाद पता नहीं कब मिलना हो? मैंने नहीं जाना कि तूने ऐसे विचार किये। अब तो मैं जल्दी-से जल्दी तेरा कार्य निपटा दूँगा। आज के युग में भी माँ-बाप चाहते हैं कि जल्दी-से-जल्दी निपटा दें किन्तु निपटा कम दें बाधक परिस्थितियाँ जो हैं। कहीं किसी प्रकार की कमी और कहीं किसी प्रकार की कमी। कहीं रूप बाधक बन जाता है तो कहीं कम पैसा बाधक बन जाता है। कहीं कम शिक्षा बाधक बन जाता है। और माँ-बाप कितना कहते हैं कि चिन्ता है तो इसी बात की कि बेटी पराई कब होगी! समाज समाज की चिन्ता बढ़ा रहा है हल नहीं कर रहा है। समाज समाज को ज्यादा कष्ट में डाल रहा है ज्यादा अशांति दे रहा है ज्यादा परेशानी में डाल रहा है। मालूम है कि समाज की लड़की समाज में ही जाएगी। मालूम है कि जाति-व्यवस्था में ही हमारे सारे सम्बन्ध होने वाले हैं फिर भी छटाई। छँटाई की प्रवृत्ति और छटाई के पीछे लोभ-वृत्ति नामालूम क्या-क्या करा रहा है। मैं क्या कहूँ मुझसे अधिक तो आप सब जानते हैं। जिन पर गुजरती है वे बहुत कुछ जानते हैं। मैं तो कहीं-कहीं एक-दो शब्द सुन कर शब्दों के माध्यम से आपको कुछ कह देती हूँ जबकि मैं जानती कुछ नहीं हूँ। 'बेटी अब तुरन्त तेरा मामला निपटा दूँगा'—राजा कहता है।

इधर साधु से पूछा कि 'तुझे क्या मिला ?' साधु ने कहा–'राजन्, मुझे त्याग, तप की साधना करते-करते इतना लम्बा काल बीत गया। अभी तक भी मुझे आत्मदर्शन नही हुए। अभी तक भी मुझे उल्लास भाव नही आया। आह्लाद नही आया। प्रभु के दर्शनो मे, मैं जगत् को खो दूँ, जगत् को भूल जाऊँ, ऐसे भाव नही आये। तो मुझे ऐसा लगा कि इतना समय तो मैंने यो ही खो दिया और भगवान भी नही मिले। 'न माया मिली न राम' इससे तो अच्छा है कि अब मै सन्यासी-जीवन छोड कर गृहस्थ-जीवन मे जाऊँ। यह विचार आया, इसलिए मैंने कम्बल फेंक दिया। मुझे एकदम विवेक आ गया। तुरन्त ज्ञान-दृष्टि मिली। अरे, इतनी जिन्दगी तो त्याग, तप और वैराग्य मे होम दी अब कहाँ मै ससार की माया मे जा रहा हूँ? अब कहाँ मैं पाँच इन्द्रियो के विषयो मे भटकने के लिए जा रहा हूँ। अब मै कहाँ भटकने के लिए जा रहा हूँ? क्योंकि 'बहुत गयी थोडी रही, थोडी ह अब जाय'।

राजकुमार कहने लगा–'पिताजी, मुझे विचार आ गया कि जितना समय निकला है उतना समय तो अब निकलने वाला नही है। राजगद्दी कभी-न-कभी मिलेगी इसलिए मैंने फेंक दिया।' राजकुमारी ने कहा, 'मैंने सोचा कि जितनी बडी मुझे की है उतनी बडी तो अब पिताजी करेंगे नही, तो बहुत गयी थोडी रही, इसलिए मैंने कगन फेंक दिया।' सन्त कहने लगा कि 'इसलिए कि इतनी जिन्दगी मैंने त्याग, तप मे निकाली तो अब कहाँ भोगो के विषयो के बीच मे जाकर फँसूँ। बहुत गयी थोडी रही, इसलिए मैंने फेंक दिया।' थोडी रही, थोडी रही उसे भी बचा लिया। किसने बचाया? राजकुमार को पिता की हत्या से बचाया, राजकुमारी को भगने से बचाया। उस सन्यासी को गृहस्थ बनने से बचाया। किन भावो ने बचाया? 'थोडी रही, थोडी रही'। इस 'थोडी रही' ने आपको भी बचा लिया और मुझे भी बचा लिया।

क्रोध से बचा ले, लोभ से बचा ले, मोह से बचा ले, माया से बचा ले, पाँच इन्द्रियो के विषयो से बचा ले, इसलिए बचा ले कि अब थोडी रही, थोडी रही, थोडी रही। वह थोडी कब पूरी हो जाएगी, इसका पता नही। अब तो छोडूँ, अब तो छोडूँ, अब तो छोडूँ, किसे छोडूँ? जहाँ-जहाँ भी मै चिपका रहा हूँ, उसे छोडूँ। जहाँ-जहाँ भी मैंने पकड रखा है, सत्ता को पकड रखा है, सम्पत्ति को पकड रखा है, अधिकार को पकड रखा है, अब उन्हे छोडूँ, क्योकि बहुत थोडी रही है। उसको पकडूँ, जिसे आज तक छोड रखा है। आत्मभावो को आज तक नही पकडा। सद्गुरु की आज्ञा को आज तक नही पकडा। जैन दर्शन के नियमो को आज तक नही पकडा। त्याग, तप, व्रत को आज तक नही पकडा। उनको तो पकडूँ और जिनको पकड़ रखा है उनको छोडूँ। घर मे रहते हुए भी सन्यासी बन जाऊँ। घर मे रहते हुए भी उदासीन बन जाऊँ। घर मे रहते हुए भी त्यागी-तपस्वी का जीवन जी लूँ। घर मे रहते हुए भी किसी का अनुशासन नही तोडूँ। घर मे रहते हुए भी किसी को कटु शब्द न कहूँ। घर मे रहते हुए भी किसी को

आँसू आए ऐसी वाणी न कहूँ। क्या दे दूँ? अधिकार की चाबी दे दूँ। सब स्वयं अपने कर्मों के अधीन हैं। स्वयं जैसे रहना चाहें, रहें। जैसे जीना चाहें, जीयें। जितना खर्चना चाहें खर्चें। जो करना चाहें करें। मैं साठ वर्ष का हो गया या मैं साठ की हो गयी। कब तक अनुशासन करना, कब तक व्यवस्था करना, कब तक दूसरों के मन को दुखाना, कब तक गलत ढंग से कमाना, क्योंकि बहुत गयी, थोड़ी रही। जो काम पिछली जिन्दगी में नहीं हुआ वह काम अब थोड़ी जिन्दगी में हो सकता है, पर कब हो सकता है? जब विचार आ जाए। कौन-सा विचार आए, कौन-सा विचार आ जाए। 'नर कर उस दिन के। मान कि जिस दिन चेत चेत चल होगी। यदि यह भाव आ जाए यदि विवेक आ जाए तो थोड़े समय में वह काम हो सकता है जो पूरी जिन्दगी में हमने नहीं किया। पर यह होगा कब? आँखों से भी कम करें सुनना भी कम करें सूँघना भी कम करें स्पर्श इन्द्रिय का रस लेना भी कम करें और जिह्वा का रस भी कम करें। पाँच इन्द्रियों के विषयों में विराम पायें। इन पाँचों खिड़कियों को बन्द करें मन्द करें। बन्द करना मुश्किल है, पहले मन्द करें। कहीं ऐसा न हो कि साठी-नाठी हो कहीं ऐसा न हो कि अब भी कहीं कीचड़ में चिपकते हो। अब तो प्रभु परमात्मा से चिपको। उनके चरणों में चिपको। आत्म-शुद्धि के भाव जागो। अब कौन-सी जिन्दगी बची है, अब तो इस जिन्दगी को परमात्मा के चरणों में चढ़ा दो। जैसे मीरा ने श्रीकृष्ण के चरणों में चढ़ा दिया। इस प्रकार इस जिन्दगी को प्रभु-परमात्मा के चरणों में चढ़ाते हुए जिन्दगी का आनन्द आ जाएगा।

कब आ जाएगा आनन्द? जब मति पलट जाएगी। मति पलट जाएगी तो गति भी पलट जाएगी। पर कब पलट जाएगी जब व्यक्ति जिन्दगी के महत्त्व को समझ ले और समय कम रह गया है यह भाव आ जाए। समय कम रह गया है। काम जरूरी है काम जरूरी है, अवसर थोड़ा है समय थोड़ा है, संसार की घर खानी करवानी बना आवो। मुझे तो यह पद बहुत ही अच्छा लगा। ये पंक्तियाँ बहुत ही अच्छी लगीं। यदि सार आ जाए तो वास्तव में खाली करने से पहले खाली करने का मन हो जाएगा, हो जाएगा, सब तरफ से वह हट जाएगा।

यह उदाहरण बहुत ठीक था कि किराये का मकान खाली करने में पहले किराये के मकान का आकर्षण कम हो जाता है। साफ-सफाई कम हो जाती है। रंग रोगन करना भी व्यक्ति बन्द कर देता है। छत की झाड़ू निकालना बन्द कर देता है। जब बन्द कर देता है, तब मालूम है कि अब तो मुझे मकान खाली करना है। खाली हमें करना है, निश्चित रूप से करना है यह मकान खाली करना है। कब करना है? पता नहीं। बहुत गयी थोड़ी रही, थोड़ी भी अब जाय। थोड़े दिन के वास्ते भजन में मन न लाय।

□□□

—इन्दौर ८ सितम्बर १९८१

४. आत्मदृष्टि : 'मैं कौन हूँ ?

भाव हिंसा की जो बात है, देखा गया है कि वह प्राय शब्दो तक ही सीमित रह जाती है। मानसिक, वाचिक, कायिक जो हिंसाएँ है, वे किसी चीटी आदि पर पाँव रखना आदि तो है ही, किसी को मानसिक अशान्ति/पीडा/क्लेश हो ऐसे शब्दो का प्रयोग भी हिंसा है। यह मानसिक श्रेणी की हिंसा है। मानसिक कष्ट जिसे पहुँच रहा है, हमारी वाचिक प्रवृत्ति उसमे निमित्त है। स्व/पर के सदर्भ मे भी हमे इस बात को समझना चाहिये। यह जीव स्व-द्रव्यो की तो खूब देख-भाल करता है, किन्तु 'स्व'-भाग की जब तक देख-भाल नही होगी, आत्मभाव की जब तक चौकसी नही होगी, राग-द्वेष के परिणामो से निवृत्त होने के क्षण जब तक प्राप्त नही होगे, तब तक भाव अहिंसा का परिपालन नही होगा।

सब जानते है कि द्रव्य की भूमिका मे तो हम अक्सर आगे बढ जाते है, किन्तु भाव की भूमिका हमारी शून्य रह जाती है। जब तक यह भूमिका सूनी रहेगी तब तक द्रव्य/सपत्ति रख कर भी हम परिग्रहो की सीमा नही रख पायेगे। जैसे एक आदमी, जिसके मकान मे आग लग गयी है और जब आग धू-धू करने लगी है तब उन क्षणो मे वह सावधान हो गया है। बहुत सारा सामान, बहुत सारे पदार्थ, बहुत अधिक मूल्यवान् वस्तुएँ उसने जलते हुए मकान मे से सब से पहले निकाल ली है। दो-दस आदमी इसी कोशिश मे है कि कोई सामान जले इससे पहले उसे बाहर खीच ले। भरसक कोशिश से कई बार मे जितने पदार्थ महत्त्वपूर्ण थे उन्हे बाहर निकाल लिया गया है। अब मकान-मालिक समीक्षा कर रहा है और अपने अनुचर से पूछ रहा है कि 'अभी वक्त है कि तुम जलते हुए मकान मे जा सको अत जाओ और एक बार फिर देख आओ कि कही कोई बहुमूल्य चीज छूट तो नही गयी है ?' जैसे ही अनुचर अन्दर गया और उसने कमरे मे पाँव रखा दौड़ कर आ कर बोला—'साहब, गजब हो गया, बडा गजब हो गया। अनर्थ हो गया !!!' मालिक घबरा गया, हडबडा कर बोला—'क्या हुआ ?' नौकर ने कहा—'साहब, सामान सँभल गया, किन्तु मालिक खो गया'। गृहस्वामी ने पूछा—'मालिक खो गया! कैसे खो गया? क्या हुआ है ?' नौकर ने कहा—'आपका वह लडका, जो तीन वर्ष का था एक तरफ सोया हुआ था ? उस ओर किसी का ध्यान ही नही गया। उसे किसी

न उठाया हो नहीं। वह जल गया। इस तरह सामान सम्हल गया और मालिक खो गया।

वस्तुत मालिक है तो ही सामान की कोई उपयोगिता है और मालिक ही नहीं है तो फिर सामान महत्त्वहीन है बिलकुल बेमतलब है। आत्मा है तो शरीर का महत्त्व है और आत्मा नहीं है तो भला शरीर के होने का फिर क्या अर्थ?

हमने यही भूल की है। आज नहीं, अनादि काल से। उस को हमारी जो व्यवस्था है उस व्यवस्था में चतुर्गति रूप जब जब हमें जैसा शरीर मिलता है उसमें हमारा 'अहं' बुद्धि बन जाता है, ममत्व बन जाता है और तदनुसार हम शरीर की सुरक्षा, व्यवस्था देखभाल तथा उससे सम्बन्धित जड़-चेतन की सार सँभार को ही अपना कर्तव्य समझते रहते हैं। अब तक हम स्वयं शरीर से हट कर कोई आत्मदृष्टि बनाने का काम किया नहीं। मैं कौन हूँ यह विचार तो कभी आया ही नहीं। जितना ममत्व, जितना लगाव जितना अपनापा हमने था उतना सब मात्र इस देह में उलझा रहा। इस तरह घनिष्ठ/निकटतम सम्बन्ध इस शरीर का है। यह भी बार-बार बदलता है। इस बदलते रहने वाले शरीर को लेकर ही हम 'मैं' की धारणा बनाते हैं। कभी एक सदभ आया था कि इस जीव ने अनादिकाल से आज तक स्वयं को 'मैं' के रूप में ही स्वीकार किया है इस स्वीकृति का कोई-न-कोई आधार होगा/है। बिना-न बिना स्वयं से उसने अपना इस मान्यता को ओढ़ा और माना है। कौन-सा आधार है वह? पैसा, सत्ता, सुन्दरता, लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, आखिर क्या? जब भी हम किसी कसौटी पर यह मूल्यांकन करते हैं तब यह कसौटी दृश्यमान जगत् की ही होती है क्योंकि जो दिखाई देता है वह जगत् है अतः जागतिक मूल्य ही इसकी कसौटी है कुछ भी तय करने की। इसीलिए जगत् की आँख में महत्त्वपूर्ण बनने की हर कोशिश इसकी है। प्रश्न है कि क्या जगत् की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण बनने का प्रयत्न आत्मकल्याण का मार्ग हो सकता है? क्या मोक्ष-मार्ग की साधना इस तरह संभव है?

देह स्थित आत्मा को समझने का लक्ष्य इस तरह नहीं बन सकता, क्योंकि जागतिक व्यस्तताओं के बीच उस अवकाश ही कहाँ है मानने का? समय कहाँ है विचार करने का? रुचि भी नहीं है।

मैंने बहुत बार उदाहरण लिया है और भी उसे देता हूँ कि कमरे की छत भी कितनी सुन्दर क्यों न हो, चुराने लायक न हो तो हम उसे सम्हाल कर रखते हैं क्योंकि मालिक उसका वही है यदि इसी तरह कपड़े-लत्ते किसी के भी हों, चुराए जाने का भय न रहे तो भी उन पर चौकसी रहती है किन्तु देह और

ने अनन्तकाल मे भी आत्मा की उतनी कीमत नही की जितनी यह आज झाड़ू की कर रहा है। सच पूछे तो ससार मे आत्मा-जैसी सनातन शक्ति के अलावा हमारा कुछ भी नहीं है, क्योंकि आत्मा के दो गुण—ज्ञान और दर्शन—उसके अलावा और कही नही मिलते, नही पाये जाते। ज्ञान गुण, दर्शन गुण यदि किसी का स्वभाव है तो चैतन्य का वह है। वह आत्मा का गुण है, किन्तु हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमारा ज्ञान गुण हर समय पर पदार्थो के निरीक्षण-परीक्षण मे लगा रहता है। इस गुण के आधार पर वह जो भी इस दृश्यमान जगत् मे दिखायी देता है, उसमे ही रागात्मक और द्वेषात्मक परिणमन किया करता है, नये-नये पुद्गलो के ग्रहण मे आनन्द का अनुभव करता है। इसी आनन्द का नाम 'पुद्गलानन्द' है।

हो सकता है आप सोचे कि महाराज तो बड़ा खरा बोलती है। भाई, सत्य-तो-सत्य-है और सत्य के निकट अब नही जाएँगे तो कब जाएँगे? मात्र यही तो विवेक की जिन्दगी है। सुनो! सत्य, सत्य है, यथार्थ, यथार्थ है। केवल कथा-कहानी के माध्यम से या पाप-पुण्य की कहानी सुनते-सुनते यदि हमने कारण को ही कार्य मान लिया है, यदि साधन को ही साध्य मान लिया है, यदि सड़क को ही मकान मान लिया है तो काम कैसे चलेगा, कैसे चलेगा काम?

जब तक जीव शुद्धात्मदृष्टि से चिन्तन नही करेगा, तब तक कारण मे कार्य की भ्रान्ति होती रहेगी, साधन मे ही साध्य की भ्रान्ति होती जाएगी। यही हो भी रहा है आज। व्यवहार और निश्चय दोनो की भेद-व्याख्या को पृथक्त न मानते हुए आस्रव के दो विकल्प कर लिये है। आस्रव के दो विकल्प है, दो बेटे है। एक पुण्य, दूजा पाप। नौ तत्त्वो के नाम है—जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, बध, निर्जरा, मोक्ष। दिगम्बर परम्परा मे सात और श्वेताम्बर परम्परा मे नौ तत्त्वो की चर्चा है। बात कुछ भी नही है। दिगम्बर परम्परा मे आस्रव मे ही पाप-पुण्य का समावेश कर लिया गया है, अलग रहने की जरूरत भी नही है। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यो ने बात को अधिक खोलने के लिए आस्रव के दो भेद कर दिये है—पापरूप, पुण्यरूप। जो पापरूप आस्रव है वह जगत् के प्रतिकूल रूप से जोड़ेगा और जो पुण्यरूप है वह अनुकूल जगत् से जोड़ेगा। आज इस शरीर को जो पचेन्द्रिय-रूप पर्याय मिली है, वह आत्मा को मिली है। यह पुण्य-योग से मिली है। आर्य सस्कृति, आर्य कुल, आर्य विचार, ये सब पुण्य-प्रकृति से ही मिलते है/मिले। व्यावहारिक सुख-सुविधा जो भी मिली है, वह सब भी पुण्य-प्रकृति के उदय की फलश्रुति है। पाँचो इन्द्रियो की जो स्वस्थ स्थिति है, वह भी पुण्य-प्रकृति का उदय है। पुण्य-प्रकृति के उदय से बहुत कुछ मिल गया पर पुण्य को भी आस्रव का ही एक भेद प्रतिपादित किया गया है, इसीलिए आगम-वचन है कि पाप लोहे की और पुण्य सोने की बेड़ियाँ है; बेड़ियाँ है, बेड़ी दोनो है—

एक स्वर्गादि स जोडता है–एक नक आदि म। एक तिर्यच म एक मनुष्य गति म। तीव्र पुण्य का फल भोगन क लिए यह जाव स्वर्गति म जाएगा और उसस कम स्थिति का फल भागन क लिए मनुष्य-गति म तीव्र पाप के फल म नर म जाएगा और उसमे कम के लिए तियच-गति म। मोक्ष कब होगा? जब चारो गति म विराम होगा तब। कब होगा? जब यह जाव चारो गति क स्वरूप को समझेगा और मानगा कि पुण्य क जितन निमित्त ह व मात्र आत्मज्ञान को समझने के लिए है आत्मशुद्धि क सवर्धन क लिए ह। द्रव्य भावशुद्धि के लिए है किन्तु भाव पर हमारा दृष्टि न पडे भाव हमार लक्ष्य म न आय आत्मा की ओर हमारी ध्यान न दौडे और मात्र निमित्तो की धारणा को हम मान लें धरम तो सताप तो हो जाएगा किन्तु सत्य की समझन की रुचि जम नही सकी।

पुण्य और पाप दोनो आस्रव क विकल्प ह। व्यवहार-दृष्टि स पुण्य उपादेय है इस अथ म कि पुण्य प्रकृति क उदय म जीवन सुख के आँगन म आ खडा हुआ है देव गुर धम के निमित्त जुट गय शास्त्र-श्रवण मिल गया। देव-गुर की आराधना का सुयोग मिल गया। पर हम सब का वह उपयोग न कर तो? योग तो मिल गया व निमित्त भी मार सामन पड हैं जिनस आत्मा का आत्मा ना ज्ञान हो सकता है किन्तु उपयोग न कर तो इस पचम योग म छठे गुण स्थान की स्थापना जीव कर सकता है किन्तु कब? जब इसका आत्म-ज्ञान का लक्ष्य हो तब। आत्मज्ञान की बात तो इस जीव को कभी अच्छी लगती नही। धमसभाओ म भी हम पाप पुण्य की कथा सुन कर सोच लेत हैं कि हो गया काम सहज ही और सस्ते म हो गया काम। क्या आस्रव की चर्चा ही हमारा उद्देश्य है? पुण्य म आसक्ति यदि है तो पाप म घृणा होगी ही। पाप म घृणा होगी तो पुण्य की आसक्ति समृद्ध होगी ही। इस जाव न जितना भी आनन्द लिया है पुण्य की उस अवस्था म लिया है जो वण रूप रस, गध स्पश की अनुकूलता कहा जाती है।

नये नय पुद्गल-सयोग पाकर जाव मुस्कराता है। पुद्गल शब्द पर सोचें। जो पूर्ण है गलता है बिगडता है बदलता है उसका नाम पुद्गल है। क्या है पुद्गल? पुद्गल वह द्रव्य है जिसका आकार ह जो स्थायी द सकता है। पुद्गल वह द्रव्य है जिसम वण गध रस पर्यायें है किन्तु इतना सब हो कर भी पुद्गल म ज्ञान गुण नही है दशन गुण नही है। उदाहरणत नया वस्त्र पहिनना मात्र पुद्गल-व्यवस्था है। वस्त्र क्या अनन्त परमाणुओं का समवाय है। रूई तन्तु और तन्तु स वस्त्र है सयोग-सबध है। इस तरह स्कन्ध बनता है। स्कन्ध बन कर पुद्गल इन्द्रियो का विषय बनता है। पुद्गल क भी दो भेद हैं– अणु स्कन्ध। अणु कभी स्थूल दृष्टि का विषय नही होता। यहाँ तक कि कई

स्कन्ध भी आँखो से देखे नही जा सकते। स्कन्ध किसे कहेंगे—समूह को। जैसे इस सभा मे इस समय भी कई परमाणु इधर-से-उधर दौड रहे है, किन्तु वे ज्ञानियो की दृष्टि मे स्कन्ध है। धूप है, छाया है, छाया के बीच मे कोई धूप की टुकडी है तो लगता है कुछ छोटे-छोटे अस्तित्व उड रहे है। वे जो उडते दीख पड रहे है, वे भी अनन्त परमाणुओ के समवाय पुद्गल है। जो यह तन्तु है, और इन तन्तु से जो वस्त्र बना है, वह पुद्गल-पर्याय है, किन्तु इन पुद्गल-पर्याय की प्राप्ति मे मुस्कराने यानी राग करने का जो कार्य कर रहा है, वह जीव कर रहा है, क्योकि राग-भाव जीव मे ही है, भले ही यह उसकी अज्ञान परिणति है। राग करने की शक्ति वस्त्र मे नही है। वह निर्जीव है। अजीव है। उसमे चेतना नही है। अनुभूति नही है। ज्ञान गुण नही है। ज्ञान गुण आत्मा मे ही है।

आपने हजार का सूट पहिन लिया, किन्तु पहिन कर आप ही मुस्करायेंगे, सूट नही मुस्करायेगा। उसे कोई खुशी नही होगी। मिल को देखकर मिल मालिक को खुशी होगी कि 'ओह, मेरी कितनी वडी मिल है।' किन्तु इतनी/यह विशाल मिल कभी मालिक को याद करके मुस्करायेगी नही, क्योकि मिल मे चेतना नही है, मिल मे अनुभूति नही है। वह तो मात्र एक पिण्ड है, पुद्गल-पिण्ड। ईट, चूने, पत्थर से बनी एक निर्जीव इमारत। इस इमारत को देखकर वही मुस्करायेगा, जिसका इस विल्डिंग से सबन्ध है, ममत्व है, अपनपा है, मोह है, किन्तु विल्डिंग मे मुस्कराने की ताकत नही है। पुद्गल है। जड है। अनात्म है। आत्मा नही है।

आपने हीरे की एक पचास हजार की वढिया अँगूठी पहिन ली। अब आप मुस्करायेंगे, किन्तु क्या अँगूठी मुस्करा पायेगी कि धन्य हुई मैं एकेन्द्रिय कि पचेन्द्रिय हो उठी? कदापि नही।

सोने की एक फाँस यदि गिर जाए, एक तोला नही, एक चौथाई तोला सोना यदि गिर जाए तो आपके आँसू गिरने लगेंगे, किन्तु दूसरी ओर मृत्यु के क्षणो में हजार-पाँच सौ तोला सोना छोड कर जाने वाला नही रोता। जाने के क्षणो मे तो वही रोयेगा, जिसमे मोह होगा, आसक्ति होगी, किन्तु शव होने के बाद, जड होने के बाद, अनुभूति-शून्य होने के बाद, धड़कने वन्द होने के बाद—जो पिण्ड है, वह क्या इन क्षणो मे उफ् भी कर पायेगा? यूँ कि मेरा हजार तोला सोना वहुत मुश्किल से जुटा-दवा कर रखा है, किसी का अधिकार छीन कर रखा है, हिस्सा-बाँट करके गलत ढग से हथिया कर रखा है—वह मेरे साथ इस क्षण नही जा रहा है। नाना पापकर्म करके कमाया होगा इसे और कमाई के उन क्षणो मे बड़ा मुस्कराया होगा। वहुत मुस्कराया होगा सिर्फ देख कर, पहिनने का तो मौका ही नही आया। कई लोग तो यहाँ तक कहते है—'महाराज, रोज पहिनने से अँगूठी घिस जाती है, इसलिए इसे नही पहिना है, नही पहिनते है। घिस

जाएगा सोना, इसलिए मात्र उसके दर्शन किये हैं मात्र उसे संग्रह में बाँध कर रक्खा है, किन्तु सुनो, जब शरीर से आत्मा निकल गयी, अनुभूति की शक्ति निकल गया ज्ञान दर्शन-गुणों से जो सम्पन्न था वह निकल गया, पंछी पिंजरा छोड़ कर निकल गया तब क्या कोई कह पाया कि मेरी लाखों का यह जो बिल्डिंग खड़ी है इसको ठीक से रंग रोगन करा देना? क्या ऐसे क्षणों में कोई कह सका कि कितना सामान मैंने इकट्ठा किया, कितनी खुशी से इसे खरीदा-बसाया कितनी बार बाजार से इसे ढोया-लाया!!

वस्त्र है। बस वस्त्र की जरूरत नहीं है पर क्या करें नयी डिजाइन पसन्द आ गया। रंग पसंद आ गया। जरूरत से अधिक भरा पड़ा है। पन्द्रह-बीस, पच्चीस-तीस जोड़े होंगे। यों ही भरा पड़ी हैं। पर नयी डिजाइन आ गयी। उसे तो लेना ही है। आज के युग में तो वस्त्रों की ऐसी क्वालिटियाँ चल निकली हैं कि ३-४ वर्षों में मन भले ही फट जाए, किन्तु कपड़ा न फटेगा न घटेगा। वह बदल जाएगा। समय के प्रहार उस पर होंगे किन्तु जब उसे खरीदा था, जब वह दर्जी के यहाँ से सिल कर आया था तब तो उस पुद्गल के प्रति आकर्षण था किन्तु आकर्षण घटते घटते जब उसे दो-तीन बरस पहिन लिया तो मन ऊब गया, तो कहता है 'दे दो किसी को। रख दो कहीं अन्यत्र।' उस समय इस पुद्गल में बड़ी प्रसन्नता हुई थी अब जुगुप्सा हो रही है। पहिनने की इच्छा नहीं है। कह रहा है—'फेंक दो इसे'। नये के प्रति आकर्षण है, इसलिए पुराने के प्रति घृणा है। जरूरत तो नहीं है किन्तु इस जीव को नये-नये पुद्गलों का जो आकर्षण है वह बार-बार तलाश करता है कि यह खरीद लो वह खरीद लो सब खरीद लो। यद्यपि ऐसा करने में उसे सुख मिलता है तथापि उसे हमेशा पता रहा है कि इस तरह प्राप्त सुख की उम्र कितनी है वह कितनी देर के लिए मिलता है? कुछ क्षणों के बाद कोई भी सुख प्राय दुःख या ऊब में बदल जाता है। हर्ष विषाद में बदल जाता है। संयोग वियोग में बदल जाता है। समृद्धि में या तो वेदना रहती है या आँसू, घृणा रहती है पर जानें हम इस ध्रुव सत्य को कि राग-द्वेष के परिणामों से आत्मा में क्या हो रहा है—स्व हिंसा।

हमारी सारी बातें पर हिंसा पर चल रही हैं। बड़ों से हम सूक्ष्म स्व हिंसा का मर्म बिना पर हिंसा से बचने के भाव आये, किन्तु स्व हिंसा से बचने के भाव/परिणाम नहीं आया। स्व-द्रव्य हिंसा से बचने के भाव तो आते हैं किन्तु पर भाव हिंसा से बचने के भाव रह जाते। जब तक भाव अहिंसा का जीवन में उत्पन्न नहीं होगा तब तक संवर भाव का प्रवेश ही नहीं है। मात्र पुण्य क्रिया है और इस पुण्य क्रिया में भी यदि परिणामों में शुभता/अशुभता है, परिणामों में यदि आरम्भत्व है परिणामों में यदि अभिमान सहित स्पन्दन है तो वह पुण्य-बंध है

अन्यथा पुण्य सज्ञा हो कर भी सामान्य-से-सामान्य पुण्य-बन्ध होगा। कभी-कभी तो पुण्य-प्रवृत्ति मे भी पाप-बन्ध हो सकता है, यथा, जब अभिमान का पुट होता है, जब दिखावे का भाव होता है, तब किसी से प्रशसा पाने का भाव होता है।

प्रशसा पाने के क्षणो मे की गयी शुभ क्रिया भी एकान्त सुख का बन्ध नही है, पाप का ही अशुभकारी बन्ध है। इस जीव ने किया बहुत है धर्म; किन्तु धरम का मरम समझे बिना किये गये धरम से कल्याण नही होगा। बहुत किया है इस जीव ने, कम नही किया है। कई प्रकार की साधनाएँ की है। कई तरह से शरीर को सुखाया है। कई प्रकार की तपश्चर्याओ मे काया को कृश किया है। अपने प्राणो को ब्रह्माण्ड मे स्थिर किया है। आसन जमाया है। हठयोग किया है, किन्तु आत्मलक्ष्य के बिना साधना अधूरी-की-अधूरी ही रही, क्योकि वह लक्ष्य नही आया, जहाँ भाव की प्रधानता है। भाव से जो पुण्य-क्रिया है, वह मोक्षार्थ नही है, आत्मकल्याणार्थ नही है। आत्मकल्याण के लिए पहले तो जीव के स्वरूप को समझना होगा, फिर पुद्गल का स्वरूप जानना होगा। जब जीव और पुद्गल के स्वरूप अलग-अलग समझ मे आ जाएँगे, तब मन मे विवेक आयेगा . 'ओ हो, मैं अनादि काल से स्वय अपने ही परिणामो से अपने आत्मस्वभाव का घात कर रहा हूँ, अपने ही परिणामो से अपने ही स्वभाव का घात कर रहा हूँ। किसी ओर का नही, अपना क्षय, यह किन निमित्तो से कर रहा हूँ?' निमित्त क्या है—सोना, चाँदी, धरती, धन, कुटुम्ब, सतान, पत्नी? ससार मे निमित्त जितने भी है, उन सब मे यह जीव राग-द्वेष के परिणाम करता ही रहता है। राग-द्वेष के परिणाम हर-हमेश चलते रहते हैं।

राग-द्वेष के जो परिणाम है, उनमे ही आत्मस्वभाव का घात होता है। इसी से घातिया कर्मों का बन्ध है। घाती कर्मों का यह बन्ध जीव निरन्तर करता आ रहा है; ऐसी स्थिति मे आत्मा का जो सहज स्वभाव है, वह प्राप्त कैसे होगा? प्राप्त कैसे हो, प्राप्त होने का प्रयत्न ही नही है, क्योकि उसे अभी तक समझा ही नही है, समझने का कोई पुरुषार्थ ही नही है।

यद्यपि पानी का स्वभाव शीतलता है, किन्तु अग्नि के सयोग से उसे अलग करे ही न तो फिर उस शीतलता का अनुभव कैसे होगा? क्रोध, मान, माया, मोह, लोभ—ये आत्मा के स्वभाव नही है, विभाव है, उसके धर्म नही है, अ-धर्म है। परन्तु जीव ने इसे कभी समझने का पुरुषार्थ ही नही किया। सूत्र कण्ठस्थ कर लिये। सूत्रो का शब्दार्थ समझ लिया, और कहने लगा मुझे इतने सूत्र याद हैं, मुझे इतने थोकडे याद है, मुझे इतना याद है, मुझे उतना याद है। मस्तिष्क को पुस्तको का सग्रहालय बना लेना कोई बडा करिश्मा नही है। शब्दो को रट कर 'मैं पण्डित हूँ', ऐसा अहम् करना भी लाभकारी नही है। ज्ञानियो उन पण्डितो

को ज्ञानी नहीं कहा है जिन्हें आत्मा का ज्ञान नहीं है। आत्मज्ञान के बिना बाह्य ज्ञान अज्ञान ही है, क्योंकि वह अहम् का कारण है। व्यक्ति जितना पण्डित बनेगा जितनी विद्वत्ता उसमें आयेगी, जितना अधिकार उसे मिलेगा, सत्ता-सम्पत्ति से जितना वह जुड़ेगा उतना ही यदि आत्मज्ञान उसमें नहीं आयेगा तो ये सब सिर्फ अहम् के कारण बनेंगे इसीलिए ज्ञानियों ने कहा है कि मद के आठ प्रकार हैं— जातिमद, कुलमद, रूपमद, ऐश्वर्यमद, तपमद, ज्ञानमद आदि। यहाँ भी ज्ञानियों ने पक्षपात नहीं किया है। उन्होंने ऐसा नहीं किया कि संसारियों से कह दिया कि तुम्हें मद है और त्यागियों से कह दिया कि तुम्हें मद नहीं है। ज्ञानमद, तप मद उनकी निष्पक्षता के प्रमाण हैं। तप का भी मद बता दिया क्योंकि तप के स्वरूप को समझे बिना जो तप किया जाता है वह भी अहम् का कारण बनता है। तप करना अच्छा है। तप करना जरूरी है। मेरा आशय समझिये। केवल शब्दों को न पकड़िये। तप करना जरूरी है। तप निर्जरा का प्रमुख कारण है। तप कर्म काष्ठ को चिनगी/प्रबल चिनगी बन कर जला डालता है। वह जरूरी है। बहुत जरूरी है पर तप के स्वरूप को समझ कर जो तप करता है उसे अहम् नहीं होता और जो उसे बगैर समझे करता है, उसके लिए वह अहम् का मुख्य कारण है। यदि तप के निमित्त से भी प्रशंसा या मान रखता है। प्रशंसा पा कर प्रसन्न होता है। तप किया और उसके स्वरूप को नहीं समझा दुर्भाग्य!!!

कब समझेंगे? वह कौन-सा जन्म होगा? वह कौन-सा जीवन होगा? वह कौन-सा अवसर होगा? लखचौरासी योनियों में यदि सर्वाधिक विकसित ज्ञानतन्तु कहीं मिले हैं तो इस मनुष्य-जीवन में। यही जीवन है जिसमें श्रेयस्कर कुछ हम कर सकते हैं, किन्तु करें कैसे?

कर सकते हैं स्व-दया और पर-दया के समन्वय-बोध से। स्व-दया और पर-दया के स्वरूप को समझे बिना ही हर समय आत्मा का घात हो रहा है उसका स्वरूप ढँक रहा है। हर समय आत्मा की हिंसा है अपने ही राग-द्वेष के परिणामों के कारण। राग-द्वेष के जो परिणाम आ रहे हैं वे सब दृश्यमान जगत् के कारण आ रहे हैं—क्योंकि इस जीवन ने उन्हें ही महत्त्वपूर्ण मान रखा है। इसने उस सबको मैं रूप में स्वीकार कर लिया है। किस रूप में? एक अवस्था विशेष में। अवस्था विशेष में। यह अवस्था विशेष कर्म-व्यवस्था है। यह व्यवस्था तो परिवर्तनशील है बदलती रहती है। इस बदलती हुई अवस्था को ही वह मैं मान रहा है।

एक चींटी भी स्वयं को जानती है कि मैं चींटी हूँ। एक मच्छर भी मानता है कि वह मच्छर है। एक पशु भी अपनी स्थिति/हैसियत का ज्ञाता है, किन्तु मैं मनुष्य हूँ मैं मनुष्य हूँ बस इतना ही रट है या इससे आगे भी कुछ

है। 'मै मनुष्य हूँ' यह कथन तो काल-सापेक्ष है। यह तो पुण्य-प्रकृति का उदय हो गया। यह तो पचास-साठ साल की जो नियत यात्रा है उस आधार पर हमने माना है।

यदि आपसे पूछा जाए कि आप यहाँ कब से है? तो आप कहेंगे—'मैं यही रहता हूँ'। 'यहाँ रहते है' यह काल-सापेक्ष कथन है। यहाँ तो अब है, किन्तु आप पहले भी थे, कभी नागौर मे रहे होगे, कभी जोधपुर मे रहे होगे। तब भी आप थे। वहाँ भी कभी किसी मकान मे, कभी किसी मकान मे, आप रहे होगे। मकान बदला होगा, किन्तु आप नही बदले। यदि आप बदल जाते तो अनुभूति किसे होती? अनुभूति की शक्ति आत्मा मे है इसलिए अनुभव के बल पर आप बोल रहे है कि 'मै पहले वहाँ था। पहले वहाँ नौकरी करता था। पहले इतनी तनख्वाह मिलती थी। अब इतनी मिलती है। पहले मेरा कार्यक्षेत्र यह था। अब यह है।'

एक व्यक्ति ने कहा 'महाराज, आज से दस साल पहले तो मै इतना ही सोचता था कि मुझे यदि पाँच सौ रुपये प्रतिमास मिल जाएँ तो उतना काफी है, किन्तु आज मेरी हालत यह है कि दस हज़ार रुपये महीना सहज ही बैंक-बैलेन्स बढ जाता है, तथापि मन कहता है कि बैलेन्स और बढाओ और बढाओ। विचार बदल गये, भाव बदल गये, किन्तु भावो/विचारो को जानने वाला मौजूद है। विचार तो क्षण-प्रतिक्षण बदलते हैं, किन्तु विचार बदल गये, विचार बदल रहे हैं—ऐसा अनुभव करने वाला तो ज्यो-का-त्यो विद्यमान है। यदि विचारो के साथ विचारक भी बदल जाता है तो वह विचारो को जानता था यह आज हम कैसे कह पाते? नही कह पाते। विचार-बदलते रहेंगे, अनुक्षण बदलते रहेगे, किन्तु इन्हे जानने वाला जो चैतन्य है वह नही बदलेगा। वही तो ध्रुव है।

इसे जानना ही आत्मा का ज्ञान है। इसे समझना ही आत्मा का ज्ञान है। इस आत्मज्ञान की भूमिका मे हम यदि इस मनुष्य-जीवन मे नही आये तो ज्ञानी कहते है, आगम कहता है कि 'मनुष्य-जीवन पाया और अकारथ खोया। पाया और खोया। इससे अधिक कुछ नही किया।' क्यो नही किया? क्योकि जगत् के, दृश्यमान् जगत् के, आकर्षण मे ही बँधा/जकड़ा रहा। धन-धरती को बटोरने मे लगा रहा। दुनिया की आँखो में महत्त्वपूर्ण बनने के भाव मे बना रहा।

प्रमुख समस्या है कि आदमी उसे जितनी ज़रूरत है, उतना नही, उससे बहुत अधिक प्राप्त करना चाहता है। ज़रूरते, देखा जाए तो, बहुत क्रम है। मैंने एक व्यक्ति से पूछा 'आप स्वय अकेले है। आपने अपनी जिन्दगी मे कमाया भी खूब है। आप खुद कह रहे है कि इस मोहल्ले मे आपके पास चार मकान है और हरेक मकान मे तीन-तीन खण्ड है। एक-एक खण्ड मे छह-छह कमरे है।' मैंने बात आगे बढाते हुए सहज ही पूछा 'आप लेटते कितने कमरो मे है? कितने कमरो

में टांग पसारते हैं? आपकी जरूरत कितनी है? बोला 'महाराज, मेरी जरूरत कितनी है यह कोई बात हुई। कितनी जरूरत है? एक कमरे के एक चौथाई हिस्से की मुझे जरूरत है। असल में एक कमरे का चौथा भाग भी मेरी जरूरत से अधिक है। वहां बैठता हूं तो ऐसा लगता है कि उसमें भी दो आदमी और समा सकते हैं। सोता हुआ तो चौबीसों घण्टों में मुश्किल से छह-सात घण्टे। इस तरह एक कमरे की एक चौथाई धरती उसके काम आती है। मकान कितने हैं? चार। तीन-तीन खण्ड, हर खण्ड में छह कमरे, कुल कमरे हुए बहत्तर। यह जरूरत हुई!!! क्या इसे जरूरत कहेंगे? क्योंकि जरूरत से अधिक रखना पाप है। जरूरत पाप नहीं है। उसने जरूरी समझा यह जरूरी समझा कि मैं दुनिया की नजर में महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हूं बनूं। मकान सुन्दर कोई व्यक्ति इसलिए नहीं बनाता कि उसका मन खुश हो। मकान तो वस्तुतः वह इसलिए सुन्दर बनवाता है कि उसके मोहल्ले के लोग जानें कि इतना/ऐसा सुन्दर मकान किसी दूसरे के पास नहीं है। सेठ जाय जरूरत के कारण कर्म-बंधन बहुत कम करता है किन्तु जरूरत अधिक करता है। बहुत सारे कष्ट वह इसलिए उठाता है कि जब कभी मुझे सभा सोसायटी में जाना पड़े तो दुनिया मेरे कपड़ों को देखे। क्योंकि दृष्टि मकान पर है मालिक पर नहीं है, दृष्टि सामान पर है स्वामी पर नहीं है। यदि स्वामी पर दृष्टि आ जाए तो वह मात्र मकान के पीछे नहीं पड़ा रहेगा।

मकान की भी व्यवस्था होगी, मकान की भी सफाई होगी पर मालिक को भुला कर नहीं। मालिक की अपनी जगह है, मालिक की अपनी व्यवस्था है। मकान की अपनी जगह है, उसकी अपनी व्यवस्था है। नौकर ने बाहर आ कर कहा, 'साहब, गजब हो गया, बड़ा गजब हो गया!' आज तक माल को सम्भाला, सोने को सम्भाला, तिजोरी को भी ध्यान कर निहारा, किन्तु तीन साल का वह मासूम/नन्हा बच्चा जो भविष्य में घर का मालिक बनने वाला था, गया। सामान सम्भाला, शरीर सम्भाला, कुटुम्ब सम्भाला, मकान सम्भाला, दुकान सम्भाली, किन्तु उस भावी मालिक को नहीं सम्भाल सके क्योंकि होश नहीं था। यहां इसलिए कॉलेज तो रहेंग-टाइम रहा है। सामायिक कॉलेज-टाइम नहीं है। इस मिनिस्टर ध्यान का कॉलेज-समय नहीं है। कहता है—अरे साहब आप नहीं जानते मैं बहुत बड़ा बिजनेसमैन हूं। बहुत सारे प्रतिष्ठित व्यापारी हैं। आप नहीं जानते—इसलिए मुझे फुरसत नहीं है क्योंकि मेरी दृष्टि में यही महत्त्वपूर्ण है जिसे मैंने महत्त्वपूर्ण माना है।

भाई सुनो मृत्यु के क्षणों में भी सुमसीस ने कहा कि मुझे पता नहीं है कम-से-कम सुमसुम तो बचा लेता क्योंकि मेरे पास समय ही नहीं है। जब धनकुबेरों का यह रवैया होता है। कोई व्यक्ति हो कोई प्रतिष्ठा वाला हो।

या कोई आत्मशुद्धि की वात करता हो, उसे आप जैसा टके-सा रुखा उत्तर दे देते हैं, क्या ही अच्छा हो कि मृत्यु को भी आप ऐसा ही जवाव दें। उसे भी कह दें मैंने ज़िन्दगी-भर जो इतनी कमाई की है, वह क्या तेरे साथ चलने के लिए की है? क्या इतना जो मैंने अर्जित है, यहाँ छोड़ जाने के लिए कमाया है, इतना पाप जो मैंने अपने सिर पर लादा है इन पदार्थों के संग्रहण में तो उसे क्या वे लोग भोगेंगे जो मेरे पीछे छूट जाएँगे? मृत्यु, जा किसी और के पास चली जा!! किसी भिखारी के पास चली जा, किसी फकीर के पास चली जा, किसी साधु के पास चली जा, किसी कंगले के पास चली जा, क्योंकि वह मरे तो क्या, और जीये तो क्या, मेरे पास क्यों आयी है? देख, मैंने तो इतना कमा लिया है कि इसे सौ वर्षों तक देख कर भी मन नहीं भरेगा।'

व्यक्ति ड्राइंगरूम के दर्शन कर उतना ही खुश होता है, जितनी आत्मा भगवान् के दर्शन से प्रसन्न होती है। उसकी आँखों में इतना खिंचाव/आकर्षण होता है। क्या साहबी है, किन्तु है किसकी? यह तो एक अवस्था है। एक पुण्यकर्माश्रित उपलब्धि है। जीव हमेशा-हमेशा इस अवस्था में नहीं रहेगा। पर यह जीव, यह तो स्व-भाव को, आत्मस्वरूप को समझे विना संसार के बीच राग/द्वेषात्मक सम्बन्धों को ले कर खड़ा है। हर समय भावहिंसा कर रहा; क्योंकि नये-नये पुद्गल-आकर्षणों में इसका रागभाव जो है!! पुराने पुद्गल-रूपों पर इनका द्वेषभाव है। भोजन के समय पुद्गल की एक पर्याय है, एक व्यवस्था है। उस व्यवस्था को जीभ पर रखते समय कितना मुस्कराता है, कितना उल्लसित होता है? चाहे दही-बड़े हों, चाहे गुलाब-जामुन, चाहे रसगुल्ले—पुद्गलानन्द ही तो है। उसके पास आनन्द की इससे अधिक पहिचान नहीं है। यह उसकी सीमा है।

उसे इसी में आनन्द है कि नये वस्त्र पहनूँ, नये जेवर पहनूँ, नये पकवान खाऊँ, नये मकान में रहूँ। मान प्राप्त हो, महत्त्व मिले, इष्ट/इच्छित मिले, आशाएँ फलित हों, मात्र इस/इतने को ही वह सम्पूर्ण जीवन का सार समझा है/समझता है। पर ऐसी स्थिति में उसने कभी अपनी आत्मा पर दया नहीं की, और जब तक वह अपनी आत्मा पर दया नहीं करेगा, जब तक अपनी आत्मा को राग-द्वेष के परिणामों से बचाने के भाव उसमें नहीं आयेंगे, तब तक उसका यह मनुष्य-जीवन सफल-सार्थक नहीं होगा। यदि इतना वह नहीं कर पायेगा तो राग-द्वेष के परिणामों की गठरी सिर पर रख कर विदा हो जायेगा। अन्तिम क्षणों में सिवा एक सूक्ष्म जगत् के, पाप-पुण्य की अतिसूक्ष्म फिल्म के इसके साथ कुछ नहीं जाएगा। फिर कहीं नया सृजन होगा और फिर उसी नयी अवस्था को आत्मरूप मान लेगा। ऐसी स्थिति में आत्मकल्याण की कोई स्थिति नहीं बनेगी, कर्म-भोग की एक अन्तहीन शृंखला बनती जाएगी जिसे कभी भी काट पाना सम्भव नहीं होगा।

—इन्दौर • २१ जनवरी १९८२

५. आत्मशुद्धि : चैतन्य-जागृति

एक दिन एक व्यक्ति ने एक दुकानदार से पूछा कि भाई! जब भी मैं आता हूँ, तुम सोने के जेवर की बात करते हो। दिखाते हो तो सोने के जेवर और खरीदते हो तो सोने के जेवर। इस पर उसने कहा— यह क्या कोई नई बात है या कोई बड़ी बात है? मेरा व्यवसाय ही सोने का है।

जिसका जो व्यवसाय होगा, उसके पास वही माल होगा। जड़-जगत का बाजार तो बहुत विस्तृत है, बहुत व्यापक है। सर्वत्र जड़-जगत का ही परिचय होता है। चाहे कपड़े की दुकान पर जाइए, चाहे सोने की दुकान पर जाइए। चाहे बाजार में जाइए, चाहे कहीं जाइए। कहीं न कहीं जड़-जगत् से तो हमारा सम्पर्क, हमारा सम्बन्ध निरन्तर रहता है।

सत्संग-सभा में आत्मचर्चा होती है। वहाँ चेतना का महत्त्व है। वहाँ चेतन को जागृत करने की बात होती है। चेतन का समर्थन की बात होती है, क्योंकि आप, आपको भूल गया। इससे बड़ा अंधेर! यह जीव स्वयं को भूल बैठा है। आज से नहीं, अनादि काल से भूल बैठा है। सचाई यह है कि इसके बिना यात्रा नहीं, इसके बिना शरीर की सक्रियता भी नहीं है। इसके बिना पदार्थों का निरीक्षण और परीक्षण भी नहीं है। इसके बिना तो जगत में कुछ भी नहीं है। जगत हमारे भीतर है। जगत हमारे अन्दर है। हम बाहर के जगत् को तो खूब देखते हैं, उसे पसन्द भी करते हैं, नापसन्द भी करते हैं, किन्तु स्वयं के भीतर जो जगत् है, उस जगत् को हमने नहीं जाना। उस जगत् को हमने नहीं पहचाना, कि जिसको हमने जितना जाना है उसी जगत् के आधार पर हमारी बाहर की यह यात्रा है। उसके लिए हम खूब सचेत हैं, खूब सावधान हैं। जैसे ही बादल हुए, जैसे ही ठण्डी हवा चली, कुछ वर्षा हुई, मैंने स्वयं ने भी सोचा कि प्रकृति अनुकूल नहीं है तो आने वालों ने भी कहा कि महाराज प्रकृति अनुकूल नहीं है। यह सर्दी का मौसम है। यदि आपके स्वास्थ्य में गड़बड़ हो जाएगी तो ध्यान रखना पड़ेगा, क्योंकि व्याख्यान का कार्यक्रम निश्चित है पच्चीस। मैंने कहा बिलकुल ठीक बात है। मैं सावधान हुई। यहाँ तक कि कोशिश की कि जुकाम जल्दी से जल्दी ठीक हो जाए।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति हमारे शरीर को प्रभावित करती है। उसका हमे वरावर ध्यान है। उससे वचने के लिए हम जागरूक भी हैं। वाधक कारणो से वचते है, साधक कारणो को उपयोग मे लाते है। सर्दी से वचना हो तो, यह भाव वरावर रहेगा। गर्मी मे गर्मी से बचना, यह ख्याल वरावर रहेगा, क्योंकि शरीर के स्तर पर जीने वालो के लिए शरीर महत्त्वपूर्ण है और जव शरीर महत्त्वपूर्ण है, शरीर के प्रति रागात्मक भाव है, शरीर को ही मन-बुद्धि से माना है। शरीर ही सव कुछ है तो शरीर-बुद्धि से पूरी ज़िन्दगी हर जन्म मे हमने जीयी थी। अनन्तकाल की यात्रा शरीर-बुद्धि के आधार पर चलती रही है। इससे शरीर की प्रकृति के लिए जो अनुकूल है उसे पाने, और शरीर की प्रकृति के जो प्रतिकूल है, उससे वचने का प्रयत्न वरावर होता है, पर क्या कभी हमने विचार किया कि शुद्ध आत्मा-स्वरूप की प्राप्ति मे क्रोध वाधक है, मान वाधक है, माया वाधक है, लोभ वाधक है। यह हास्य रति, अरति, शोक, भय,जुगुप्सा जितने भी विभाव-भाव है, ये सारे ही आत्मशुद्धि में वाधक है। शुद्ध आत्म-स्वरूप की प्राप्ति में वाधक है तो क्या इन्हे वाधक मान कर हमने इनका त्याग करने का विचार कभी किया है? क्या आने से पहले इनके आने को हमने नकारा है? क्या आने के क्षणो मे हम सावधान वने है?

वर्षा आती है तो हम सावधान हो जाते है कि एक-दो ऊनी वस्त्र और ज्यादा लपेट लो इस शरीर पर, कही सर्दी न लग जाए। और गर्मी मे यदि पसीना आता है तो पखे का उपयोग कर लेते है। वातानुकूलित कक्ष (एयरकडीशड रूम) का उपयोग कर लेते है, कूलर का उपयोग कर लेते है कि शरीर को पसीना नही आना चाहिये। उन प्रतिकूलता से वचने के लिए कितने उपाय है, क्योंकि शरीर मे ही आत्मबुद्धि है। शरीर केन्द्र-विन्दु है। शरीर के इर्द-गिर्द ही हमारी जीवन-यात्रा होती है, किन्तु ज्ञानी कहते है कि केवल मनुष्य-जिन्दगी मे ही आत्मा के महत्त्व को समझा जा सकता है। आत्मा का मूल्याकन हो सकता है। आत्म-स्वरूप की प्राप्ति मे जो वाधक भाव है, उनसे वचा जा सकता है। पर अभी हम आत्मसाधक नही हैं। अभी तो हम इन्द्रियो के साधक है, हम विषय-कषायो के साधक है, हम वाह्य-जगत् के पदार्थो को प्राप्त करने के साधक है। इससे हमारी साधना उधर-ही-उधर चलती है। साधक तो है—पाँच इन्द्रियो के विषयो की पूर्ति करने के, आत्मशुद्धि के लिए हम साधक वने कहाँ है? अभी तो उस ओर हमारी रुचि ही नही है। वहुमान ही नही है। महत्त्व ही नही है। मन मे भाव ही नही है कि मै सिद्धो के वश का हूँ। मै वह चैतन्य शक्ति हूँ जिसका ज्ञायक स्वभाव है और यदि उसके अज्ञान का आवरण हट जाए तो तीन लोक को तीन काल को एक समय मे जान सके, ऐसे निर्मल ज्ञान की पर्याय वह है।

सारे जगत् को जानना और देखना, यह आत्मा का मूल स्वभाव है, मूल गुण है। इतनी उसकी निर्मलता है पर उस आत्म-शुद्धि को मै उपलब्ध करूँ, ऐसे भाव आते ही नही है। आये तो उनकी रुचि वने। रुचि हो तो फिर वहुमान बने, जगे। वहुमान जगे

तो प्रयत्न करें। भीतर जाने का प्रयत्न करें। अपनी ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का प्रयत्न करें और यदि यह अंतर्यात्रा प्रारम्भ करना है तो फिर कुछ समय के लिए इस शरीर की सारी खिड़कियां बन्द करो। उनमें से झांकना भी बन्द करो। बोलना बन्द करो। सुनना बन्द करो। सूंघना बन्द करो। स्पर्शन इन्द्रिय के विषय को भी बन्द करो और पाँच इन्द्रियाँ रूपी खिड़कियों को बन्द करके भीतर बैठे आत्मदेव को जगाओ। जागो, जागो, जागो। चैतन्य को जगाओ। जागने का अवसर है। जागने का समय मात्र मनुष्य पर्याय है और किसी जिन्दगी में इस चेतना को जगाने का मौका भी नहीं मिलेगा और चैतन्य में जागने के भाव भी नहीं जगेंगे। यहाँ जगा लोगे। मात्र मनुष्य जिन्दगी है। पर उस एकमात्र मनुष्य जिन्दगी को जो आत्म कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण है इस जीव ने महत्त्वपूर्ण नहीं माना। नहीं माना यही तो मिथ्यात्व है। यही तो इसका अज्ञान है। और अज्ञान आज से नहीं अनन्त काल से है। क्या कभी मोह की नींद टूटेगा? क्या अभी बाह्य आत्मा के ठाठ छूटेंगे? क्या आत्मा अन्तर्भाव में जागेगी।

भाई बहन! तेरी शक्ति कम नहीं है। तेरी शक्ति इतनी है कि वह सारे संसार की शक्ति का संचालन कर सकता है। आज अणु-जगत् की जो शक्ति और प्रयोगात्मक रूप लिया है वह किसने दिया है? इसी चैतन्य ने दिया है। आज चाँद पर आकाश में भी उड़ाया है तो किसने उड़ाया है? किसी पशु ने नहीं उड़ाया है इन्सान ने उड़ाया है। इस आत्मा की ही यह शक्ति है कि हमने दिनों की दूरी को घण्टों में बदल दिया है। और विश्व में भी कुछ ही मिनिटों में बात करा दी है। और अब तो आगे एक ऐसा भी आविष्कार हुआ है या हो जाएगा कि जहाँ चेहरा भी दिखाई देगा और बात भी हो सकेगी। आवाज ही नहीं सुनाई देगी अपने प्रिय व्यक्ति की अपने परिवार के व्यक्ति को आँखों से देख भी सकेंगे। यह सारी शक्ति यह अणु-जगत् का जितना भी आविष्कार है अणु शक्ति का जितना भी प्रयोगात्मक रूप है उसका संचालक कौन है? उसका ज्ञाता कौन है? यही आत्मा किन्तु ज्ञानियों ने उस ज्ञान को 'अज्ञान' कहा जो केवल पर-पदार्थों को विषय करता है। ज्ञानियों ने उस ज्ञान को ज्ञान कहा जो ज्ञान आत्मा में रहता है। आत्मा का ही ज्ञानोपयोग है किसी और का नहीं है किन्तु आत्मा का ज्ञानोपयोग आत्मा में ही नहीं रहता। आत्मा को ही ज्ञात नहीं करता। वह तो ज्ञान हर समय कर रहा है। कभी चाँदी के भावों का ज्ञान कर रहा है कभी सोने के बाजार का ज्ञान कर रहा है कभी पीतल-सोने के भाव सुन रहा है। कभी मकानों का कभी दुकानों का, कभी हाट-हवेलियों का। कभी रंग का कभी रूप का। यह ज्ञान पर-पदार्थों का ही कर रहा है। पर पदार्थों में ही इसका ज्ञान बँटा हुआ है। चौबीस घण्टों में कोई ऐसा मिनिट है कि जिस समय हमारा ज्ञान चेतना स्वयं को ज्ञात करे? हर समय—अज्ञान अंधकार। हर समय जड़-जगत

मे इसकी मति लगी रहती है और हर समय राग-द्वेष के परिणामो मे वह जाता है, जबकि ज्ञानी कहते है भाव-निद्रा त्याग कर, भावो मे ही जाग जा, भाव-निद्रा त्याग कर भावो मे ही जाग जा। चैतन्यचन्द्र सोता क्यो है? जन्म-मरण टाल। चैतन्यचन्द्र सोता क्यो है? जनम-मरण टाल। सिद्ध-सम सुख तेरा, नही तू कगाल। यह ज्ञानियो का आवाहन है। ज्ञानियो का सकेत है। वे दावे के साथ कह रहे है। विश्वास के साथ कह रहे है। 'सिद्ध-सम सुख तेरा'—तू पहचान तो सही। तू विचार तो कर। तू किसी क्षण इस बात को मान तो सही। पर नही, नही। नही मानता, स्वय अपने आपको नही मानता। जगत् को मानता है। जो जलने वाला है, जो गलने वाला है, जो बनने वाला है, जो बिगडने वाला है, जो टूटने वाला है, जो फूटने वाला है, जो छूटने वाला है, उसे खूब मानता है। उसमे खूब ममत्व करता है। उन सयोग-सम्बन्धो मे खूब रचा-पचा है। जानता है कि यह शरीर जनमा भी है, जानता है कि शरीर जलेगा भी, किन्तु उसमे इसका खूब मोह है। उसमे इसकी खूब रागात्मक वृत्ति है। उसके पालन-पोषण मे खूब मशगूल है और इस शरीर से जो सम्बन्धित है, उनके पीछे वह पागल है।

जब ज्ञानी कहते ह कि तू पागल है, इसलिए कि तूने अपने-आपको कभी जाना ही नही। दुनिया की तूने चिन्ता की, दुनिया की तूने सार-सभाल की, किन्तु कभी अपने-आप पर भी विचार किया? विचार ही नही करेगा तो प्राप्त कहाँ से करेगा? श्रीमद्‌राजचन्द्र ने कहा—'कर विचार तो पाय'। प्राप्त कर सकता है। प्राप्त करने की योग्यता हे। अधिकार है, और वर्तमान मे तथैव सयोग है। पर यह जीव तो रचा-पचा हे। इसे अवकाश नही हे। समय नही है। इन्द्रियो के विषयो से छुट्टी नही है। खाने के प्रकारो से छुट्टी नही हे, पहनने के नित-नये वस्त्रो से छुट्टी नही है। जो कुछ सामान है, उसे सजाने और सँभालने मे फुर्सत नही है।

इसे फुर्सत कहाँ है? जहाँ इसका राग हे, जहाँ इसका ममत्व है, जहाँ इसका बहुमान है, जिसको इसने अपना माना हे, उन सबके लिए तो खूब समय हे। पूरी जिन्दगी हे, किन्तु समय स्वय के लिए नही है और जब अपने-आपको विचार ही नही करेगा तो यह विचार आ कैसे सकेगा कि क्रोध की प्रकृति, मान की प्रकृति मेरी आत्मा के लिए बाधक है। यह भाव ही नही आता हे। वह तो यह सोचता है कि क्रोध कितना भी कम हो, मान कितना भी कम हो, माया कितनी भी करूँ, धोखा-विश्वासघात कितना भी करूँ, पर मिल जाए मुझे। क्या मिल जाए? धन-सम्पत्ति मिल जाए जो दुनिया की आँखो को पीला करती है। वह मिलना चाहिये। वह आना चाहिये वह कैसे भी प्राप्त हो, फिर भले ही नरक मे भी जाना पडे, तो तैयार है। तिर्यंच गति के धक्के भी खाना पडे, तो तैयार है। आज भले किसी का एक शब्द नही सुना, पर तिर्यंच गति मे मार खाने को भी

तयार है। यहां अपराध का सहन, स्वीकार करने के लिए भी तयार नहीं अपराध का प्रतिक्रिया के लिए भी तयार नहीं है और वहाँ बिना अपराध के भी मार खाता है।

अभी-अभी नये मन्दिर में यहां तक पहुँचने के बीच एक गाया को देखा। भूखी बेचारी बार-बार मण्डियों में मुह डालती है और मंडी बेचने वाले धड़ाधड़ लकड़ियां बरसाते हैं। उसी समय मुझे विचार आया—चेतन यहां तुझे मान-कषाय का क्या पता है!! मनुष्य जिन्दगी में तो तू मान-कषाय पर चढ़ा हुआ है। यहाँ तो तेरी मान-कषाय इतनी प्रबल है कि कोई यह कह दे मुझे? एक शब्द भी क्या कह दे? मैं क्या सुनूं? मैं किसकी सुनूं? मुझे सहन करना है कौन? यहां तक कि मैं नहीं रह सकता इस घर में। सुनना मेरा स्वभाव नहीं है मेरी आदत नहीं। सहनशीलता मेरे वश की नहीं है। मैंने पूछा इस जीव से पूछा। उस गाय को देख कर पूछा कि हे जीव बता, यहाँ तू कहीं भी आत्मपुरुषार्थ के लिए कठिन परिश्रम करना नहीं चाहता है। यहां तो दो शब्द सुन तो तुझे क्रोध आता है। दो शब्द कोई कह दे तो आंखों से आँसू बरसते हैं। पर यह गाय मार खाती जा रही है यह कुछ भी नहीं कहता। कुत्ता कितनी मार खाता है कितने पत्थर खाता है वहाँ? कोई और जीव नहीं है और भी जीव हैं। जैसी आप में चैतन्य शक्ति है वैसी चैतन्य शक्ति उनमें भी है। भूख-प्यास सब सब सहन कर रहा है। सर्दी में सर्दी, गर्मी में गर्मी। परिग्रह संज्ञा तो कम नहीं होगी, किन्तु 'परिग्रह' तो तिर्यंच गति में बहुत कम है। तिर्यंच गति में कहां परिग्रह है? दो समय का भोजन भी किसी गाय भैंस का रखा हुआ नहीं है। सर्दी में दो वस्त्र भी कोई मालिक डाल दे तो अलग बात है नहीं तो जंगल में घूमने वाला के लिए तो दो वस्त्र भी नहीं है। दो पैसे भी नहीं है। इतने दुःखों के निमित्तों में यह जीव कितने लम्बे काल तक कितनी बार घूम घूम कर आया है। क्या आया है? घूम कर। क्रोध मान माया, लोभ हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा। आठ कर्म सेना है। सेनापति कौन है? सेनापति मोह है। मोह सेनापति है राजा है और आठ कर्म उसकी सेना है। यह मूर्च्छित भाव है। कौन-सा मूर्च्छित भाव? शरीर में आत्मबुद्धि। शरीर में जो आत्मबुद्धि है वही मूर्च्छा है और जब तक वह मूर्च्छा छूटती नहीं है आत्मा आत्मा को जानता नहीं है तब तक आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रकट करने में जो बाधक कारण है उन्हें छोड़ने की बात ही अच्छी नहीं लगती। उन बाधक कारणों का विचार करने की बात अच्छी लगती। इन बाधक कारणों को कहो मैं स्वाध्याय में सुनूं ऐसे भाव नहीं जगते। और कदाचित् सुन भी लें तो सुनने के बाद उनका चिंतन मनन ही नहीं होता।

बाधक भाव हैं। कब विचार करें? जब क्रोध आये तभी विचार करो कि जीव तेरे लिए यह बाधक भाव है। तेरी शुद्धि के लिए बाधक भाव है। तेरी अशुद्धि

बढ जाएगी। एक हजार रुपये का नफा यदि बहुत गलत ढग से हो तो अपने चेतन को कहो कि तुम अपने-आपको क्या दे रहे हो ?' तुम अपने लिए क्या तैयार कर रहे हो ? माना कि दुनिया की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण बनने के लिए तो तुम लखपति बनने जा रहे हो। परिवार को खुशी देने के लिए तुम हजारो का सग्रह कर रहे हो। सन्तान के प्रति जो तुम्हारा मोह है, उस मोह के कारण तुम सग्रह मे लगे हो। पर जरा विचार तो करो। बाहर मे तो तुम पैसो का सग्रह कर रहे हो, मकानो का सग्रह कर रहे हो। तीन-चार इमारतो, हवेलियो का निर्माण करा रहे हो। दुनिया की दृष्टि मे बडे बनने जा रहे हो। पर आत्मा को कहाँ ले जा रहे हो ? जिन भावो से, जिन निमित्तो से, जिन विषय-कषाय के सयोग से हर समय तुम्हारी आत्मा मे जो कर्म-बन्धन हो रहे है, जरा विचार तो करो कि तुम अपनी अगली यात्रा के लिए क्या कर रहे हो ?

किसी और से पूछने की जरूरत नही, इस चेतन से ही पूछा। इस चेतन मे तुरन्त कहा कि देख चेतन, मकान यही रह जाएगा। परिवार भी यही रहेगा। इस शरीर को कितना ही हृष्ट-पुष्ट बना, कितना ही अन्तहीन खा, भक्ष्य-अभक्ष्य खा, पर चेतन देख! यह शरीर यही जल जाएगा। तेरे साथ नही जाएगा। भले ही तू इसे साठ-सत्तर किलो का बना ले, पर यह शरीर यही राख का ढेर हो जाएगा। तीन-चार किलो राख, उस राख को भी कोई नही पूछेगा। वह जगल मे उडती फिरेगी, इधर-से-उधर। वह भी एक शरीर की पर्याय होगी। वह भी एक पुद्गल का ही परिणमन होगा, किन्तु आज जिस पुद्गल से तू इतना मोह कर रहा है, जब यह पुद्गल राख के रूप मे परिणमन करेगा उस दिन इस राख का मोह कौन करेगा ? कोई नही करेगा। जीव, जरा विचार कर। तू अपनी यात्रा का विचार कर। ज्ञानी कहते है—जाग, जाग स्वय-ही-जाग। किसी के जगाने से कुछ नही होगा। स्वय को जागना होगा। स्वय की रुचि से जागना होगा। ज्ञानी तो सिर्फ सकेत देगे। मार्गदर्शन देगे। एक दिशा देगे। उन्होंने महत्त्व बता दिया है। केवल मनुष्य-जिन्दगी ही अध्यात्म-दृष्टि से, आत्म-कल्याण के लिए महत्वपूर्ण है। यह बताने के लिए, यह समझाने के लिए, नामालूम कितने ग्रन्थो का निर्माण किया है। उन ज्ञानियो का कितना उपकार है हम हम सब पर। क्या उन्हे स्वार्थ-बुद्धि थी हमसे ? उन्होंने अपनी आत्म-साधना के समय को आत्म कल्याण मे लगाते हुए जो आत्मस्वरूप का अनुभव किया, जगत् के जीवो के लिए उन्होंने जिन शास्त्रो का निर्माण किया, वह महान् उपकार है, किन्तु हममे उस उपकार को समझने की बुद्धि नही है। उसके उपकार से अपनी आत्मा को लाभान्वित करने के भाव नही है। कृतज्ञता के भाव नही है, क्यो नही है? इसलिए कि हमारी दृष्टि तो मात्र चमडे मे है। हमारी दृष्टि तो मात्र संसार के वैभव मे है। ससार के पदार्थों मे है। हमारा दृष्टिकोण तो इतना ही है कि दुनिया की दृष्टि मे 'मै आगे पहुँच जाऊँ

और जहा दष्टि में वाह्य का महत्त्व होता है वहा वाहर का दृष्टि स ही वह शब्द भी बोलता है।

मन-परसा ही किसी न कहा महाराज, उनका हम क्या छाड करें? उनको हम कहाँ लगेंगे?" मैन कहा, मिद्या जमा जीव कभी कायर भाषा बालता ह? किस अथ म? पस के अथ में। उनका हम कहाँ लगेंग अथात लालसा तो वहीं है। पैसे का कितना महत्त्व ह? मिथ्यादष्टि के मन म पस का महत्त्व नहा हो तो मिथ्यादष्टि नही रहगी। सम्यक दृष्टि होन के बाद क्या रहगा, पस का उपयोग रहेगा, विवेक में। अजन म भी विवक और वितरण म भी विवक। विवक के विना वह अजन भी नही करेगा। विवक के विना वह वितरण भा नही करेगा। अजन और वितरण दोना म विवेक की दिशा हागा, क्यावि जिसन जाव को जीव' जान लिया है, अजीव का अजीव जान लिया ह जड को 'जड' जान लिया है चेतन का 'चेतन' जान लिया है उसका यात्रा की दिशा स्वयमव वदल जाएगी। और उसकी यात्रा की दिशा वदलगी तो वह खा जाएगा। कहाँ? स्वय म। स्वय को खोजेगा। खोजेगा भी पायेगा भी। वह वाजार का खोज कम कर देगा। भीतर की खोज ज्यादा कर दगा। खोजे विना खा नही सकता। जब कभी किसी के भी पाँव में काटा लग जाए। हो सकता है आप लागा के न लगे पर हम ता पद यात्री ठहर। नगे पाँव घूमत हैं ता काट लगन का अनुभव हम ता बहुत ज्यादा है। नामालूम कितनी बार काँटे लगते हैं किन्तु जस ही काटा लगता है, काँटा लगन के क्षणा में पाव रुक जाता है और जस हा पाव रुकता है पहल खोजते हैं कि पूरे पाँव में काँटा किस जगह लगा है। उस जगह का खाजते हैं और खाज कर ही नहा रह जाते ह, फिर खोदते हैं और कुछ नहा मिले तो कभी कभी काँटे-स-ही काँटे का खोदते हैं। खोदगा कौन जा खोजेगा वहा न? खोजेगा नहा तो खोदेगा क्या? जमीन म भी पहले पानी खोजोग फिर उस खोदोगे। कहीं कोई खदान भा होगा ता पहले खोजोगे, फिर खोदोगे। वस हा इस जीव को, जीव क स्वभाव का प्राप्त करन के लिए खोदना होगा। अज्ञान भाव का खोदना हागा। अज्ञान की पत जब हटेगी तब वहा सच्चिदानन्द चतन्य रूप, जा इसी दह म विराजमान है दशन दगे और उसके दशन हाने ता जगत् के दशन स वह विमुख हो जाएगा।

जगत् का देखा, जगत का सुना, जगत् स वाना जगत् क पदार्थों का सग्रह करो किन्तु उसका दृष्टि म ता यह सब तब मात्र धूल रह जाएगा। दशन में मात्र पुद्गल की पर्याय रह जाएगी। उसका लक्ष्य वण रूप गध स्पश पर नहा जाएगा रूप और रग पर नहीं जाएगा। वह ता मात्र इतना ही विचार करेगा कि इस देह-देवल म भी आत्मा है। एक काडे का दखगा, यही विचार करेगा कि इसमें भी आत्मा है। सवत्र आत्मा-दशन करन के भाव उसमें जाग जाएग। किसके

जाग जाएँगे? जो चैतन्य की यात्रा प्रारम्भ करता है उसके। जिस किसी ने जहाँ कही, जब भी चैतन्य की यात्रा प्रारम्भ की है, निश्चित रूप से उसने मनुष्य जिन्दगी का महत्त्व समझा है। मनुष्य-जिन्दगी के महत्त्व को समझे बिना जो केवल जड-जगत् के विचार मे ही जिन्दगी को समाप्त कर रहा है तो वह ज्ञानियो की दृष्टि मे 'धूल धानी और राख छानी' है।

मुस्कराता है इन्सान। अरे साहब, यह बगला आप ही का है। शब्द क्या बोलता है? आप ही का है। और मन-ही-मन मुस्कराता है। ओह! मेरा बगला देख कर इनका मन कितना खुश होगा। कितना खुश होगा। अज्ञानी का ही होगा, ज्ञानी का तो नही होगा। ज्ञानी तो श्रावक भी कभी खुश नही होगा। आरम्भ-समारम्भ की क्रिया का अनुमोदन वह नही करेगा। जरूरी करना पडेगा वह सब करेगा, किन्तु चलते-चलते कर्म-बधन ज्ञानी मोल नही लेगा।

अभी रास्ते मे भी देखा कि एक व्यक्ति ने जब गाय को मारा है और मेरी नजर पडी, दूसरा व्यक्ति मुस्करा रहा है। उसको मार जो पडी है, मार से निश्चित उसे वेदना हुई है, किसी की वेदना मे भी कोई मुस्कराता है। उसने लकडी मारी नही, लकडी मारने का कहा नही, किन्तु जो उसकी मुस्कान थी वह भी कर्म-बन्धन का कारण है। किसी के दुःख मे मुस्कराना यह कर्म-बन्धन है। किसी की व्याधि मे शब्दो के घाव देना, यह कोई ज्ञानी की दृष्टि नही है। मैंने सुना किसी एक महिला को यह कहते कि जब साठ-सत्तर वर्ष की उम्र मे किसी बीमारी ने विशेष रूप से आ घेरा और जब उसने अपनी जरूरत के लिए कहा, तो दूसरी महिला कहती है 'हाँ, अपनी जरूरत तो अब समझ मे आ रही है, जिन्दगी मे किसी की जरूरत पूरी की थी? क्या जिन्दगी मे किसी की सेवा की थी? जब क्या स्वय का समय था तब किसी की साल-सम्हाल की थी? आज स्वय को जरूरत है तो बराबर ध्यान आ रहा है। मेरा यह करो, मेरा वह करो, मेरा यह करो।' मुझे लगा यह विवेक भी दे रही है और अज्ञानता का परिचय भी दे रही है। दूसरे-सुनने वालो को जरूर विचार करना चाहिये कि बुढापा सबको आने वाला है और वृद्धावस्था मे शरीर अधिकाशत अस्त-व्यस्त होता है। तो सेवा की भावना से न करे तो भी कम-से-कम इस बहाने से भी हम वृद्धो की सेवा करे कि कभी हम भी वृद्ध बनेगे। हमे भी कभी जरूरत पडेगी। जब हमे जरूरत पडेगी तो हम भी किसी की जरूरत पूरी करे। आप यदि किसी की जरूरत पूरी करेगे तो आपकी भी जरूरत कोई पूरी करेगा। आप किसी के काम आयेगे, जो आपके काम भी कोई आयेगा। यदि आप किसी की जरूरत पूरी नही करेगे तो आपके समय मे कोई आपकी जरूरत पूरी करे, बहुत मुश्किल है। मुझे प्रेरणा भी मिली पर मुझे अज्ञानता का परिचय भी लगा कि इन क्षणो मे इस प्रकार के

तात्रे शब्द बालना, "यग्यपूण शब्द बालना तात्र का काम करता है। यह मजबूरी है, लाचारी है। व्यक्ति सुनने वाला यहां महसूस करता कि हे भगवन कभी समय आया है नहीं कराना पड़ता तो अच्छा था क्योंकि जब यह वहन म लाभ भी क्या उसके करने के दिन नहा है। अब वह शारीरिक स्थिति नहा है। हमारा उपदेश लग नहा सकता है। सेवा करने वाला यदि सेवा करने का हर समय गिनाता रहता है तो मैंने एस लाग भी देख है जिनकी आख बरसन लगता है यह बहुत कि हे महाराज न हर किसी का पराधीन क्योंकि सेवा करने वाला ताने कसता रहता है। अजी मुझे बाहर जाना है पर छाऊं कैसे इनका राटी का बड़ी परेशानी है। कहीं नहीं जा सकती हूँ क्योंकि जब देखा तब इहा इहा का ध्यान रहता है। पता नहीं कब इनका आयुष्य पूरा होगा और कब मुझे छुट्टी मिलेगा एस कटु शब्द भी परिवार म सदस्य बालते हैं। य वास्तविकताए हैं। पर ऐसे शब्द प्रयोग कब हाते हैं जब व्यक्ति स स्वार्थ नहीं सधता। जब शरीर काम नहा देता। जब पास पैसा नहीं रहता ता कहीं-कहा तो कुत्ते-जैसा कीमत भी परिवार नहा करता। ऐसा भी होता है। किसी पर टाण्ट या व्यंग्य करना या उसमें आंसू निकलाना कोई शान का परिचय नहीं है। हम कितनी ही बार किसी का करना म मुस्करात हैं किसी का गरीबी पर हंसते किसी के बुढ़ापे पर हंसते हैं तो समझ लेना चाहिये कि यह मात्र अज्ञान है।

यह व्यक्ति जैसे ही गाय का मार पर हमा मुझे लगा वाह-वाह। वास्तव म इन्सान बनना कोई बड़ी बात नहीं है। मानवता का विकास होना बड़ी बात है। मानवता का विकास ही नहीं है इसके बिना अध्यात्मिकता प्रारंभ ही नहीं हो सकती। मानवता तो नीव है। आध्यात्मिकता का महल तो बाद म उठेगा। पर मानव म मानवीय गुण भी नहीं होते। मानव म परस्पर एक-दूसरे के दुःख-दर्द म काम आयें ऐसे भाव भी नहीं होते। वहा वह शक्ति का परहित नियोजन नहीं करता। ऐसी स्थिति म तो इन्सान आकृति म बन गया किन्तु मानियों की दृष्टि म तो वह पशु ही है।

मानियों ने एक बार नहीं अनेक बार कहा। गतद तुलना म बराबर खड़ा है। वहीं आगे नम्बर नहा लिया मानियों ने उस मनुष्य को जो वचन ग्लान का रस ले रहा है भोगों का रस ले रहा है सम्मान का रस ले रहा है संग्रह का रस ले रहा है। बचपन इहा रसा म व्यक्ति का जिन्दगी बीत रही है तो मानियों ने कहा भले ही तुम आकृतियों म इन्सान बन गये हो किन्तु प्रकृति म तो पशु ही हो। तुमने इन्सान का इन्सान नाम पाया पर क्योंकि तुमने इन्सानियत नहीं पाया। मानवता नहीं आयी और मानवता नहीं आयी इसीलिए गरीबों का शोषण करने म भी परेशानी नहीं है। संग्रह मात्र उसका लक्ष्य है। संग्रह संग्रह के लिए नहीं

होना चाहिये। सग्रह वितरण के लिए होना चाहिये; सग्रह भी दीन-दुखियो की सेवा के लिए होना चाहिए। सामाजिक सस्थाओ को सहयोग देने के लिए होना चाहिये।

कभी सोचना चाहिये कि चलो अपना पुण्य योग है जो पैसा आ रहा है। आ भी रहा है, तो जा भी रहा है। पर व्यक्ति की आसक्ति नही टूटती। कब नही टूटती? जब मोह की मूर्च्छा जबर्दस्त होती है। वह तो सग्रह-ही-सग्रह पसन्द करता है। और यदि आत्मज्ञान हो जाए तो मोह की मूर्च्छा न टूटे, ऐसा हो ही नही सकता। हम अपने जीवन मे विचार करे कि क्या हमारी मोह-मूर्च्छा टूटी है? आपने सुना होगा कि एक सत्सग-प्रेमी ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनो जा रहे थे। ब्राह्मण देवता आगे जा रहे थे। पीछे पत्नी थी। ब्राह्मण देवता कह रहे थे कि समय हो रहा है, समय हो रहा है, समय पर पहुँचना है। अपनी धुन मे ही चलते जा रहे थे, किन्तु पूरी तरह अपनी धुन मे नही थे। नजर नीचे भी थी। स्मरण करते हुए भी जा रहे थे। किन्तु धुन अटक गयी, मति भटक गयी, कब? जब स्वर्ण का एक आभूषण दिखायी दिया। जैसे ही वह दिखायी दिया, मति इतनी अटकी कि वह स्वर्णरूपा हो गयी, किन्तु बाद मे विवेक आया कि मेरी पत्नी मेरे पीछे आ रही है। नारी-जगत् को माया-मोह ज्यादा होता है। लोग कहते है, पर पता नही यह कहाँ तक सत्य है? और यदि ऐसा होता तो शायद पुरुष मोह छोड सकते थे। कमाई के गलत ढग भी छोड सकते थे, इसलिए उन्होने सोचा मेरी पत्नी आ रही है पीछे-पीछे। यह स्वर्ण है, जहाँ कही इसके दर्शन हो जाएँ तो सबकी आँखो पर पीलापन छा जाता है और यह जहाँ मिले वहा 'धन आये मुट्ठी मे, इन्सान जाये भट्टी मे' की कहावत चरितार्थ हो जाती है।

कोई व्याख्यान सुना था जिसमे एक प्रसग था कि एक व्यक्ति भगवान् के चरणो मे जाता है, किन्तु भगवान का वह भक्त नही है, वस्तु का भक्त है। पदार्थ का भक्त है। इस कामना से जाता है कि मेरे यह हो जाए, मेरे वह हो जाए। तो वह भगवान् का भक्त नही है, पदार्थ का भक्त है। वह तो वस्तु का भक्त है। वह सत्ता और सम्पत्ति का भक्त है। और सत्ता सम्पत्ति का भक्त है, इसलिए भगवान् के चरणो मे जा कर कहता है: 'प्रभो, इतना मुझे जरूर दे देना'। श्रीकृष्ण ने कहा कि नौ सौ निन्यानवे लोग है। मुझे भजने वालो की तो कमी नही है। मुझे भजने वाले बहुत है। दुःख मे मुझे कोई याद न करे, यह बहुत मुश्किल है। सुख मे भले ही भूल जाएँ किन्तु दुःख मे तो मुझे याद करना ही होता है। पर नौ सौ निन्यानवे लोग मेरे लिए मुझे नही भजते। मुझे भजते जरूर है, पर मेरे लिए नही भजते। भजते है माया के लिए। मेरे लिए भजने वाला तो हजार मे कोई एक मिलेगा माई का लाल।

पति ने सोचा कि पत्नी की आँखों में कहीं पत्थरिया भी जाएगा और कहीं स्वर्ण देख मन ललचा आयगा तो इसलिए उन्होंने सोचा कि इस सोना का मोह पैदा न हो इसलिए उस पर मिट्टी ढँकने लगे। किन्तु जब तक मिट्टी ढँकने लगे तब ही उतने में पत्नी निकट आ गयी और बोला—स्वामिन सत्संग में जाने के लिए जो महत्त्वपूर्ण समय है उसका उपयोग आप यहाँ कर रहे हैं? मुझे नहीं समझ में आता कि मिट्टी-की मिट्टी से ढँकने में इतना प्रयत्न क्या कर रहे हैं? है कोई सोच का ज्ञान जो स्वर्ण को मिट्टी के रूप में देख कर के विकल्प ही न करे। पति ने विकल्प तो किये, मन ने स्वर्ण का विकल्प तो किया, बुद्धि में भेद तो रहा सोने और मिट्टी का, किन्तु उस ब्राह्मणी के मन में तो विकल्प भी नहीं रहा। मिट्टी और सोने का भेद भी नहीं रहा। अतः उसने कह दिया कि स्वामी! मिट्टी-की मिट्टी से ढँकने का प्रयत्न क्या कर रहे हैं? ऐसी दृष्टि जिस किसी की बन गयी हो वह किसी भी वेश में हो, वह किसी भी देश में हो, प्रणम्य है। उन सन्त संत नमन है जिन्होंने ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्व का सत्य को समझ लिया है। असत्य का रंग उतार दिया है।

हम प्रायः बुद्धि के स्तर पर शब्द को समझ लेते हैं किन्तु असत्य का रंग नहीं उतरता। दो पैसे के लिए दो रुपये के लिए दुनिया-भर की धोखा विश्वास घात कर लें। दो चीजें इधर से-उधर हो के लिए यहाँ जितना क्रोध कर ले। दो चीजें टूट जाएँ फट जाए, कितना भी क्रोध आ जाए पर इस आत्मा का कभी विकल्प नहीं आता। यह विचार नहीं आता और जीव तू कितना क्रोध कर रहा है? तेरा आत्मा और अशुद्ध हो रही है तू इधर तो भजन भाव करके सत्संग में कीर्तन में जा कर के आत्मा को शुद्ध करने की बात करता है और उधर कषाय भाव में आकर, विषय भाव में आकर उसे फिर मैला कर लेता है।

कोई व्यक्ति कपड़ा धोता जाए किन्तु नीचे से कीचड़ लगाता जाए। ऊपर से कपड़ा धोता जाए धोता जाए। कीचड़ लगाता जाए धोता जाए और कीचड़ लगाता जाय। उसे क्या कहेंगे? आपकी, मेरी ऐसी ही मति है। मैं आप लोगों से अलग नहीं हूँ। बिलकुल आपके साथ हूँ। मुझे क्रोध नहीं आता है, ऐसी बात नहीं है। मुझे क्रोध आता है, मान माया लोभ सब आते हैं। मैं तो यह सोच रहा हूँ कि सद्गुरु की कृपा हो जाए और कषाय भाव हम निर्वाणी बन लग जाए। हमारा गलती हम महसूस भी होने लग जाए।

यदि हम अपनी बुद्धि में अपने दुर्गुणों को देखने भी लग जाएँ तो उन्हें जरूर छोड़ेंगे। देखेंगे नहीं तो भला क्या छोड़ेंगे? और कहीं-कहीं तो व्यक्ति को अपने जितने दुर्गुण होते हैं वे कम ही लगते हैं। उसे ज्यादा नहीं लगते। ज्ञानियों ने कहा—कभी क्रोध को कम मत मानना। घाव को कभी छोटा मत मानना।

कर्ज को कभी कम मत मानना। काफी। लोग यही कहते है कि महाराज, क्रोध वहुत कम आता है मुझे। आता है, इसका दु ख नही है। और जितना आता है, उसे छोडने की वात नही है। सन्तोप है। मन मे प्रसन्नता है। इस वात की कि मुझे क्रोध वहुत कम आता है।

ज्ञानी कहते है, दुर्गुण-तो-दुर्गुण है। काँटा-तो-काँटा है। कचरा-तो-कचरा है। छोटा क्या, वड़ा क्या? कम-ज्यादा क्या? पर व्यक्ति सन्तोप प्राप्त करता है। किसमे, कि वहुत कम आता है। कितने ही लोग मुझे कहते है, महाराज क्रोध आता है। है, पर वहुत कम आता है। वहुत कम आता है, यह ऐसे शब्द निकलते है, जैसे सन्तोष की साँस ले रहा है।

कर्ज को कभी कम मत मानना। यदि कर्ज को कम मानता रहेगा तो कर्ज व्याज के रूप मे कब वढ जाएगा और कव अशान्ति मोल ले लेगा, पता नही। रूखी रोटी खा लेना, दो कपडो मे जिन्दगी गुजार देना। दुनिया की देखादेखी मे मत जाना। मूछो के चाँवल वताना कोई जरूरी नही है। वह दो दिन वता दोगे। छह महीने तक भीतर-भीतर हृदय जलता रहेगा। कर्ज वसूलने लोग घर पर आते रहेगे। मन-ही-मन परेशान होते रहोगे। मूल से व्याज वढ जाएगा, इसलिए ज्ञानियो ने कहा कर्ज को कभी कम मत मानो और घाव को कभी छोटा मत मानो। घाव कव गहरा हो जाए, कोई पता नही।

ऐसे ही क्रोध को कभी मत मानना। अग्नि को कभी मत मानना, क्योकि यह थोडी भी कब ज्यादा हो जाए, कोई पता नही, पर, यह जीव तो सन्तोष प्राप्त करता है, क्यो प्राप्त करता है? क्योकि अव तक देह-स्तर पर ही जीया है। आत्म-शुद्धि की कोई कल्पना ही इसे नही है, कोई भाव ही नही है, कोई विचार ही नही है, कोई विचार ही नही हे, इसलिए शरीर की प्रकृति है नुकसान करने वाली। प्रकृति का—सर्दी-गर्मी की जो ऋतु है, चौमासे की जो ऋतु है उसका विवेक रहता है। उस ऋतु से वचने के भाव रहते है। दवा लेने के भाव रहते है। सव प्रकार से अपने-आप को यह सजग रखता है, सतर्क रखता है। सावधान रखता है। वाधक परिस्थितियो से दूर होता है, किन्तु आत्म-शुद्धि मे क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रकृति वाधक है, यह विकल्प इस जीव को नही आता। जिस दिन यह भाव आयेगा उस दिन समझिये कि 'सत्सग' का लाभ मिला आपको, मुझे, सवको।

—इन्दौर २६ दिसम्बर १९८१

इस जीव को जीव का बोध कैसे हो? इस आत्मा को आत्मा का ज्ञान कैसे हो? इस चेतना को चेतना का द्योतन कैसे हो? अनादिकाल की सुषुप्ति जागृति में कैसे बदले? बाह्य आत्मा अंतरात्मा कैसे बने? बहिर्मुख वृत्ति में अंतर्मुखता का लक्ष्य कैसे जगे? मात्र इस उद्देश्य से इस ध्येय को लेकर प्रतिदिन सत्संग का आयोजन होता है। सत्संग में इसी विषय को दृष्टि में रखते हुए कई उदाहरणों, कई संस्मरणों तथा कई घटनाओं के माध्यम से इस चेतना को हम जगाना चाहते हैं। महापुरुषों ने इसे जगाने का अथक प्रयत्न किया क्योंकि वे स्वयं जागृत हुए। जाग चुके थे इसलिए उन्होंने जगाया किन्तु उनके जगाने पर भी हमारी नींद अभी उड़ी नहीं है। द्रव्य निद्रा तो आये दिन टूटती है किन्तु भावनिद्रा नहीं छूटती।

भावनिद्रा का अर्थ है—स्वयं को स्वयं का न जानना, स्वयं को स्वयं का न मानना, और स्वयं को स्वयं के दर्शन न करना। जब तक यह स्थिति है तब तक हम जगने की कोशिश बराबर और बार-बार करनी है। प्रयत्न क्या है—महापुरुषों की वाणी का श्रवण, महापुरुषों की वाणी का चिंतन मनन। हो सकता है अध्ययन करते-करते यह सत्य हमारे समक्ष में आ जाए और हमारी अनादि की भावनिद्रा टूट जाए। जब यह अवस्था होगी तब जीव एक ऐसी सुखानुभूति करेगा, जिसका अनुभव उसे आज तक नहीं हुआ। संसार में, परिवार में, देश और समाज में सबके बीच रहते हुए भी जब तक इस सबसे भिन्नत्व का बोध नहीं होगा तब तक उस परम आनन्द की अनुभूति इसे हो नहीं सकेगी। उसे प्राप्त करने के लिए जब तक इस जीव के मन में भाव नहीं जगेंगे, जब तक उस ओर वृत्ति नहीं जाएगी, जब तक इसकी रुचि नहीं बनेगी, तब तक प्रवृत्ति भी नहीं होगी।

किसी एक समय किसी एक व्यक्ति ने एक संत से प्रश्न किया कि संसार में, समाज में, परिवार में हजारों निमित्तों के बीच में रहते हुए ऐसा कैसे हो सकता है कि व्यक्ति किसी भी प्रवृत्ति से प्रभावित या परेशान न हो? क्योंकि यह एक बहुत बड़ा अनुभव है कि व्यक्ति प्रतिकूल प्रसंगों में परेशान हुए बिना रहता नहीं है। कभी-कभी तो जीवन में प्रतिकूल संयोग सगे-सगों के लिए मिल जाता है।

मान लीजिये किसी को यदि रोटी ठीक नहीं मिली तो वह प्रतिकूल सयोग है किन्तु कुछ समय का है, यानी एक रोटी, दो रोटी जो भी खानी है, खाने के बाद उस सयोग का वियोग हो जाएगा। जैसे वस्त्र, यदि वह मन-पसन्द नही है तो हम उसे किसी को दे सकते हैं, या आधा-पुराना छोड सकते है, या विना-मन के भी कुछ समय पहन सकते है, किन्तु उसका वियोग भी दो, दस दिन, दो, चार, छह महीनो मे हो सकता है, किन्तु जहाँ सम्बन्धो मे प्रतिकूलता का अनुभव होता है, वाप-वेटे का, पति-पत्नी का, माँ-वाप का तो ये सम्बन्ध ऐसे है जिनमे व्यक्ति आजीवन उलझा रहता है। आजीवन जिस सम्बन्ध मे वँधा हुआ है उन सम्वन्धियो के वीच मे, निकट सम्पर्क मे रहने वाले व्यक्तियो के वीच मे जव प्रतिकूलता होती है, जव प्रकृति की परेशानी होती है तव आर्त्त-ध्यान की सभावनाएँ वहुत रहती है, कर्म-वन्धन के निमित्त वहुत अधिक रहते हैं फलस्वरूप व्यक्ति प्रतिक्षण अशान्ति का अनुभव करता है।

कुछ सम्बन्ध ऐसे होते हैं कि जिन्हे सामाजिक, व्यावहारिक, पारिवारिक, गुण-परम्परा, भारतीय सस्कृति की दृष्टि से निभाना ही है, तव ऐसी प्रतिकूल स्थिति मे यदि व्यक्ति अपने ज्ञान से, विवेक से काम नही लेता है तो उसकी समस्या उसे हर समय परेशान करती है, उसका मन हर समय अशान्ति, मात्र अशान्ति, का अनुभव करता है।

कइयो के जीवन मे शारीरिक प्रतिकूलताएँ होती है, यानी किसी-किसी मे वीमारियाँ इतनी अधिक आती रहती है कि वह चीख उठता है कि महाराज, इससे तो मृत्यु ही आ जाए तो ठीक है, क्योकि आये दिन वीमार रहता हूँ। कभी वुखार है, कभी दस्त है, कभी सिर-दर्द है, कभी कुछ है, तो कभी कुछ है। वर्ष मे स्वय को मैं छह महीनो से ज्यादा अस्वस्थ पाता हूँ। खाने की इच्छा होती है, खा नही सकता, घूमने की इच्छा होती है, घूम नही सकता, जाने की इच्छा होती है, जा नही सकता, ऐसी विषम स्थिति मे लगता है कि इस शरीर मे अव कैसे रहना? शरीर से मुक्ति मिल जाए तो अच्छा। ऐसे प्रतिकूल सयोग मे व्यक्ति सोचता है कि यह कैसा सम्बन्ध हो गया? कैसे जीऊँ? कव मुक्ति पाऊँ?

ऐसी अनेक प्रतिकूलताएँ है जिनमे जीते हुए व्यक्ति वहुत ही परेशानी, कटुता और अशान्ति का अनुभव करता है, किन्तु अशान्ति का जो यह अनुभव है, कटुता का जो यह अनुभव है, और परेशानी का जो यह अनुभव है, वह अज्ञान का परिचय है। अज्ञान का परिचय इस अर्थ मे कि उसी के शुभाशुभ कर्म का उदय यह है। उसने ही जीवन मे इस परिस्थिति का निर्माण किया है। इस परिस्थिति के निर्माण मे, इस परिस्थिति के परिचय मे अव जितनी ज्यादा परेशानियाँ होगी,

जितनी ज्यादा हैरानियाँ होंगी उतना ही ज्यादा कम-चंचन होगा। यदि ऐसे समय वह नानिया व वचना का आसरा ले न तो उस विषम परिस्थिति के समाधान का अवसर उसे मिल जाता है।

ज्ञानी कहते हैं कि वह कोई जीवन नहीं जिसमें कोई विशेषता न हो, कोई विचित्रता न हो। ऐसे में यदि ज्ञानियों के वचनों का आधार रहेगा तो व्यक्ति परेशानियों में भी सुख शांति का अनुभव करेगा। श्रीमद्‌राजचन्द्र ने कहा—ज्ञानी के अज्ञानी जन सुख दुःख रहित न कोय। ज्ञानी वेदै धैर्य से अज्ञानी वेदै रोय।' ज्ञानी के पास एक आलम्बन है महापुरुषों की वाणी का, चिन्तन का जिसके आधार पर वह प्रतिकूलताओं को अपने ही किये का फल समझ कर मुक्त और दुःख दोनों परिस्थितियों में मन को शान्त रखने का प्रयत्न करता है और मान कर चलता है कि जो कुछ प्राप्त है वह कुछ समय के लिए ही है।

वास्तव में जो भी मिलता है वह सब बिछुडन के लिए ही मिलता है। बन्धन के लिए ही बनता है। वियोग के लिए ही है संयोग। मरण के लिए ही है जन्म। ऐसा ज्ञान जब उसे हो जाता है तब आत्मा का भान उसे हो जाता है तब वह हर परिस्थिति का स्वागत करने के अभ्यास द्वारा मन को सन्तुलित रखने का प्रयत्न करता है। युवक ने कहा महाराज यह बात समझ में आ नहीं रही है कि सबके बीच रहते हुए अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में रहते हुए अपने-आप को उन परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होने देना। यह ज्ञानियों का आचरण सुन रहा हूँ किन्तु उसका अनुभव अपने जीवन में कहीं ऐसा प्रसंग अभी जीवन में आया नहीं है किन्तु चाहता हूँ कि ऐसा प्रसंग मेरे जीवन में आये। इस प्रसंग की स्थिति से पूर्व आप ऐसा उदाहरण दीजिये कि जिससे उस परिस्थिति को मैं ठीक ठीक समझ पाऊँ। सन्त ने कहा तुम बाजार जाओ और एक नारियल ले कर आओ। नारियल लेकर आ जाना। जब नारियल ले कर युवक आ गया तो सन्त ने कहा इसके ऊपर का जो हिस्सा है चोटी-चोटी उसे सबको उतार लो। उतार कर पूरा गोला अलग कर लो। मुझे चाहिये गोला और तुम छिलके को उस मत लो। उसने प्रयत्न किया और उसके ऊपरी हिस्से को फाड़ भी लिया। नारियल का गोल में अलग करने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि गोले के कई टुकड़े हो गये। क्या हो गया? प्रयत्न करने का अलग करने का था किन्तु नारियल टूटे तक पहले गोला टूट गया। गिरा के टुकड़े हो गये। क्या कारण था? नारियल गीला था। गिरी काचली से चिपकी हुई थी। इतनी अधिक कि चोट जब भी काचली पर पडती तब गिरी के टुकड़े हो जाते। चोट किस पर हुई? काचली पर और टुकड़े किसके हुए? गिरी के। जितनी चोटें उतने टुकड़े। जब उसने सन्त को जा कर दिया कि सन्त यह देखो यह मिला। सन्त ने कहा—

मुझे साबुत गोला चाहिये। यह तो तुमने चिटकें दे दी। 'महाराज, मैंने बहुत प्रयत्न किया'। 'और कर'। दूसरी बार प्रयत्न किया, तीसरी बार किया, किन्तु परिणाम हर बार वही आया। साबुत गोला एक बार भी नही निकला। टुकडे ही उसके हाथ आये। सन्त ने कहा—'एक नारियल बाजार से और ले आओ, किन्तु इस बार ऐसा नारियल लेकर आना जिसमे गोले की आवाज हो। जिस नारियल मे नारियल की आवाज हो।' वह जब नारियल ले कर आ गया तो कहा—'इसे निकाल कर दें'। तो ठीक गोल-मटोल साबुत गोला निकल आया। काचली से वह अलग हो गया। काचली के टुकडे-टुकड़े हो गये, किन्तु गोले का कुछ नही बिगडा। सन्त ने कहा—'ये दोनो उदाहरण अपने-आप मे पर्याप्त है। पानी वाले नारियल मे भी गोला है और सूखे नारियल मे भी गोला है, किन्तु एक मे पानी है और पानी की वजह से गिर काचली से एकदम जुडी हुई है, चिपकी हुई है, इसलिए जब-जब भी चोट काचली पर होती है, टुकडे गिरी के होते है। प्रत्यक्ष है कि चोट का प्रभाव गिरी पर पडता है। जिस नारियल मे पानी नही था, जो नारियल सूखा था, क्या वह काचली मे नही था? काचली मे ही था। काचली के भीतर ही था। काचली से बाहर नही था, किन्तु काचली मे रहते हुए भी वह काचली मे नही था। प्रमाण था उसका बजना। काचली मे वह है, किन्तु काचली मे लिप्त नही है चिपका हुआ नही है, आसक्त नही है, इसलिए चोट पडी काचली पर, किन्तु वह अक्षत और सम्पूर्ण रहा।'

मिथ्या और सम्यक् दृष्टि मे भी यही अन्तर है। सम्यक् दृष्टि भी परिवार मे रहेगा, समाज मे रहेगा, सब मे रहेगा, और सुख-दुःख के झूले मे झूलता भी रहेगा, कभी दुःख का, कभी सुख का, दो मे से किसी एक का पलडा ऊँचा, एक नीचा रहेगा, किन्तु दोनो ही मे उसकी रुचि नही होगी। एक को वह शुभ का परिचय मानेगा तो, दूसरे को अशुभ का। शुभ और अशुभ के परिचय का जो अनुभव है, उसे वह स्वय का पूर्वकृत कर्म फल मान रहा है, इसलिए वह दोनो का स्वागत कर रहा है। जब सुख जाएगा तब उसे कोई वेदना नही होगी। परिवार से मन दुःखी होना या पैसे से मन दुःखी होना, इष्ट शब्दो के अभाव मे मन दुःखी होना, प्रतिकूल सयोग मे मन दुःखी होना, बहुत बडी बात है या बहुत छोटी बात है, किन्तु सम्यक् दृष्टि तो अपने शरीर की वेदना मे भी दुःख का अनुभव नही करता। चौबीस घण्टे जिस शरीर मे वह रहता है, प्रतिक्षण शरीर मे रहते हुए भी भिन्नत्व का बोध करता है, इसलिए शरीर की वेदना से उसके मन मे विकलता नही है। ऐसे अनेक प्रसग सुने है, पढे है और आँखो से देखे है कि शरीर की पीडा मन को प्रभावित नही करती शरीर को निद्रा न आये तो मन प्रभावित नही होता।

ऐसे एक सज्जन को मैंने देखा। दो महीना तक निकट में रखा कि वह एक व्यक्ति है। एक जून का उनका भोजन है। लूखा आहार है। एक या दो बार चाय लेते हैं। एक जाड़ वस्त्र है। सर्दी का मौसम है पूस का महीना है। बिछाने का गद्दा नहीं है ओढ़ने को रजाई नहीं है। श्रावक धर्म की ऊंची भूमिका में जीवन जीने वाले। रात्रि में नींद मुश्किल से, दो-तीन घण्टे जिसे भी प्रमाद मान कर व उसमें मुक्ति पाना चाहते हैं। सोचते हैं इतना यह समय जागरण में ही व्यतीत होना चाहिये मनुष्य का यह जिन्दगी तो विवेक में ही पूरी होनी चाहिये। जिह्वा तो हर समय महापुरुषों के स्मरण में ही रमनी चाहिये। यह शरीर तो महापुरुषों के नमन में ही झुकना चाहिये। इस प्रवृत्ति को उन्होंने इतना अपनाया कि रात्रि में विश्राम के समय नींद न आये यह उनका प्रयत्न है। नींद जिन कारणों से आती वे उनका त्याग कर देते।

दृष्टि बदलने पर व्यक्ति कम बदलता है? मैंने किसी श्रावक को संकेत किया कि सर्दी बहुत है ठण्डी घनी हवा है थोड़ा साधन किसी न किसी रूप में इन्हें दिया जाए। तो किया कुछ भी नहीं सिर्फ टाट की सिलाई करके उसमें घास भरवा दिया और जबरदस्ती बिछा दिया। वे साधक सवेरे मेरे पास आये और कहने लगे महाराज मैं छुट्टी चाहता हूँ। मैं विदा चाहता हूँ। यहाँ से जाना चाहता हूँ क्योंकि यहाँ के परिचित तो मेरी आत्मा के साथ शत्रुता का व्यवहार कर रहे हैं। मैंने कहा—किसने क्या कर दिया? कहने लगे—महाराज, रोज दो या तीन घण्टे से ज्यादा नींद नहीं लेता, बाकी समय आत्म-स्मरण आत्म चिंतन में व्यतीत करता हूँ किन्तु आज उन बंधु ने घास का गद्दा जबरदस्ती मेरे नीचे बिछा दिया। मनाही करने पर भी वे नहीं माने। मैंने भी मन रख लिया किन्तु घास की गरमास से मुझे नींद आ गयी कि मैं ग्यारह बजे सोया और चार बजे उठा। मेरा बहुत नुकसान हो गया बहुत घाटा मुझे लग गया।

इसी युग की बात कह रही हूँ। मेरे जीवन का संस्मरण है यह। जिन व्यक्ति की बात मैं कर रही हूँ वे जीवित हैं। साधना में हैं। बहुत घाटा हो गया, बहुत नुकसान हो गया कि तीन घण्टा का समय मुफ्त में निकल गया। इस बीच कितना बार आत्मा में अपने उपयोग को मैं जोड़ता? मेरा वह सारा समय प्रमाद में चला गया। जरा हम तुलना करें जरा हम विचार करें। क्या हममें कभी ऐसे विचार आते हैं? विचार तो जरूर आते होंगे कि आज नींद आया नहीं आया या कम आयी, दर से सोये, जल्दी उठ गये। ये सारे विचार तो आते हैं। आज तो मुझे दिन में दो घण्टे सोना है क्योंकि रात भर मैंने काम किया है। सोना है मान के विचार भी अच्छे लगते हैं किन्तु अधिक सोने पर आत्म साधना में अड़चन हुई ऐसे विचार कितना को आते हैं? उस व्यक्ति ने कहा—"शत्रुता का व्यवहार हो गया। इन्द्रिय शरीर की आसक्ति कितनी गया। यदि शरीर की आसक्ति न जाए

तो नीद के भाव आये विना रहेगे नही। अरे, मेरे शरीर को आराम नही मिला। मेरे शरीर को विश्राम नही मिला। मुझे नीद नही आयी। कितने विकल्प है। और उधर वह व्यक्ति है जो कह रहा है कि महाराज, आज वहुत वडा नुक्सान हो गया, वहुत वडा घाटा हो गया। हम तो ऐसे नुकसान या घाटे की कल्पना भी नही कर सकते। पैसे का नुकसान, नुकसान है। पैसे की हानि, हानि है। इष्ट वियोग की हानि भी हानि है, किन्तु नीद अधिक आना और आत्म-चिन्तन कम होना कभी हानि हमने माना क्या? क्यो नही माना? इसलिए कि हमारी आत्मा मे देह-वुद्धि वहुत अधिक है। देह-वुद्धि की अधिकता से शरीर मे आसक्ति भी घनी है। शरीर की आसक्ति के सघन होने से शरीर से सम्वन्धित चिन्तन चलता रहता है और शरीर को जितनी अधिक अनुकूलताएँ मिलती है, अनुकूल पदार्थ और सयोग मिलते है, अनुकूल साधन, अनुकूल वस्त्र, अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती है तो हमारा मन मुस्कराता है। अनुकूलताओ मे मुस्कराता है और प्रतिकूलताओ मे परेशान होता है। यह मोह है। देह मे आत्म वुद्धि का ज्वलन्त प्रमाण है।

जिनकी शरीर मे आत्मवुद्धि छूट जाती है उनका चिन्तन भी वदल जाता है, सोचने की शैली वदल जाती है समझने का ढग वदल जाता है। रहने का रग वदल जाता है, सहने का रग वदल जाता है, खाने का ढग वदल जाता है, पीने का ढग वदल जाता है। वह जगत् मे रह कर भी जगत् से अलग रहता है। वह शरीर मे रह कर भी शरीर से परे रहता है। वह परिवार मे रह कर भी उसे एक क्षणभगुर मेले से अधिक महत्त्व नही देता। मान कर चलता है वह कि यह तो पाँच-पचास-साठ वर्ष का मेला है, मिला है, और विखर-विछुड जाएगा। वह विचार करता है कि ऐसे जीऊँ, ऐसे रहूँ, ऐसे खाऊँ, ऐसे पीऊँ कि मेरे जाने के वाद या मेरे रहते हुए मेरे निमित्त से किसी को परेशानी न हो। ऐसा विचार कौन करेगा? कितने है ऐसे व्यक्ति जो विचार करे कि पूरे दिन मे मेरे द्वारा किसी को परेशानी न हो, किसी को तकलीफ न हो? आये दिन आँसू गिरते है, घर मे सघर्ष होते है, झगडे होते है।

कितनी ही वार कुछ ऐसे प्रसग सुनने को मिलते है कि हम जिनकी कल्पना भी नही कर सकते। जितने अधिक घनिष्ट सम्वन्ध होते है, उतनी ही अधिक अशान्ति होती है। यह अशान्ति अज्ञान की है, मोह की है, पर-मे-आत्म-भ्रान्ति की है, क्योकि वह जो है उसे स्वीकार करना नही चाहता और उसे वदल सकता भी नही। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति अशान्ति का अनुभव करता है। जहाँ आत्म-ज्ञान का सुनहला स्पर्श हो जाता है वहाँ जगत्, जगत् रह जाता है, पदार्थ, पदार्थ रह जाते है, सयोग, सयोग रह जाते है और वह सव मे रहते हुए भी एक अलौकिक आत्मानुभूति का अनुभव करता है कि 'जगत् की दृष्टि से वह जगत् मे है, किन्तु

ज्ञानियों की दृष्टि में वह आत्मा में है। दुनिया की दृष्टि में वह धनवान है किन्तु अपनी दृष्टि में तो वह इस वैभव को पुण्यप्रकृति का मेवा मानता है। दुनिया की दृष्टि में वह गरीब है किन्तु आत्मा की दृष्टि में तो आत्मधन को ही सर्वोपरि मानता है। मेरा ज्ञान मेरा दर्शन मेरा चारित्र्य मेरा अनन्त सुख मेरी आत्मा से कभी अलग नहीं हो सकते। अभी यह कल्पना [illegible] सकता है, सत्पुरुषों के शब्द ही सकते हैं किन्तु हमारा अपना अनुभव वहाँ नहीं है।

यदि अपना अनुभव हो जाए तो उसका आनन्द ही फिर निराला होगा। रहनी अलग होगी, कहनी भी अलग होगी। अभी मध्यप्रदेश के एक विज्ञानवेत्ता महात्मा जिन्हें मैंने अठारह वर्ष पहले गुरुवर्यश्री के सम्पर्क में देखा जिनका नाम था शायद वे? परिवार सम्पन्न था। पुत्र-पौत्र थे। मैं स्वयं उनके घर से आहार ले कर आया। जब मैंने उन्हें देखा तब अपनी आत्म मस्ती में ही पाया। अपनी मस्ती में वे रहते। और जब उठते तब अध्यात्म की चर्चा। वहाँ अक्षरज्ञान नहीं विद्वत्ता का कोई प्रमाण नहीं डिग्री का कोई सर्टिफिकेट नहीं। शब्दों की पाण्डित्यपूर्ण जोड़-तोड़ नहीं फिर भी उनका जो दृष्टिकोण था उनका जो लक्ष्य था आत्मा पर उनका जो ध्यान था वह अपूर्व था प्रत्यक्ष था। मुझे उनके एक शब्द बार बार याद आता है कि संसार का नाम तन न बहन-मन है मन और जिसका, वह न संसार। मन जिसका इस तरफ है उसके जीवन में मददगार हो है। उनका मन इन्द्रियों के विषयों में न रहकर आत्मा में रहता था उनका कार्य भी था प्रयत्न भी था आचरण भी था।

यदि शब्दों के स्तर पर बातें होती जाएं और आचरण में सच्ची व्यक्ति न मिले तो यह आत्मकल्याणकारी नहीं हो सकता। व्याख्या बड़ी हो सकती है शब्दों का ज्ञान बहुत हो सकता है बौद्धिक ज्ञान बढ़ हो सकता है या वक्तृत्व शक्ति का एक वैशिष्ट्य बढ़ हो सकता है। उनके जीवन का ऐसा सादा आचरण था। कैसा अपूर्व ढंग से वे जीते थे! एक समय रोज भी भोजन करते थे वही भोजन करते थे जिस गाँव में रहते थे वहीं सामान भी रखते थे। कई महिलाएं और पुरुष उनके सम्पर्क में आते थे। इस समय वे दुनिया की दृष्टि में थे किन्तु अपनी दृष्टि में?

यदि आपसे मुझसे कोई पूछे कि आप कहाँ रहते हैं तो पहले हम कहेंगे भारत में। भारत में कहाँ रहते हैं तो कहेंगे मध्यप्रदेश में। मध्यप्रदेश में कहाँ रहते हैं तो कहेंगे इन्दौर नगर में। इन्दौर नगर में कहाँ रहते हैं? तो कहेंगे अमुक कॉलोनी में या शहर के किसी बाजार की किसी गली में। गली में भी कहाँ रहते हैं तो फिर कहेंगे अमुक नम्बर। वह आगे भी कहाँ रहते हैं तो कहेंगे अमुक नम्बर के मकान में। मकान में भी कहाँ रहते हैं तो कहेंगे सामने वाले कमरे में। कीन्तु

खण्ड मे कहाँ रहते हैं तो कहेंगे कि चार कमरों में से वहाँ एक कमरा मेरा है, वह उस कोने में है, वहाँ रहता हूँ। कमरे में कहाँ रहते हैं तो कहेंगे एक स्थान मेरा निश्चित है बैठने का वहाँ बैठता हूँ। फिर कहाँ रहते है? तो कहेंगे शरीर में। शरीर मे भी कहाँ रहते है तो कहेंगे असख्य आत्मप्रदेशो में। असंख्य आत्म-प्रदेशो मे मै रहता हूँ, यह आध्यात्मिक परिचय है, यह आत्मिक परिचय है। बाकी सारा परिचय जितना भी है, वह किससे सम्बन्धित है? शरीर से।

ससार में ऐसे-ऐसे ज्ञानी भी है जो दुनिया मे रहते हुए, दुनिया का अनुभव करते हुए भी अपने-आप को कुछ भिन्न ही अनुभव करते हैं। उनके इस आनन्द की कल्पना कोई दूसरा करे, यह बहुत मुश्किल है।

एक बार इसी तरह की एक बहस बीरबल और बादशाह के बीच छिड गयी। बीरबल भी सूझबूझ का परिचय कम नही देते थे, तो बादशाह भी उनकी परीक्षा के लिए अवसर कम नही उपस्थित करते थे। एक दिन राजसभा में बीरबल को सम्बोधित करते हुए बादशाह ने कहा—बीरबल मैंने एक अजीब स्वप्न देखा है, अर्द्ध-रात्रि के बाद। जहाँपनाह क्या देखा? मैंने देखा कि गदे पानी का एक कुण्ड है और तुम उसमे डूबे हुए हो ओर एक निर्मल जल का कुण्ड है जिसमे मै डूबा हूँ। बीरबल ने तुरन्त कहा—जहाँपनाह! मैंने भी एक ऐसा ही स्वप्न आज देखा है। आपके और मेरे स्वप्न में थोडा ही अन्तर है। मैंने देखा कि एक बहुत बडा कुण्ड है, क्षीर समुद्र जैसा निर्मल जल है, और उसमें आप डूबे हुए है और एक गन्दे कुण्ड मे मैं डूबा हूँ। बादशाह ने क्या कहा, कि बीरबल मैंने तुम्हे एक गदे पानी के कुण्ड मे डूबे हुए देखा और बीरबल ने कहा कि जहाँपनाह मुझे भी ऐसा ही स्वप्न आया किन्तु मैंने आपको क्षीर-समुद्र-जैसे निर्मल जल मे डूबे हुए देखा। आपका ओर मेरा स्वप्न यहाँ तक तो बराबर है, किन्तु मैंने और भी कुछ देखा। और क्या देखा, वह भी तो बताओ। बीरबल कहता है—स्वामिन्, मैंने जो आगे देखा वह यह कि मै गन्दे पानी के कुण्ड मे हूँ किन्तु आपको चाट रहा हूँ, और आप मुझे चाट रहे हैं। बादशाह सोचने लगा कि बीरबल की बुद्धि का कोई हिसाब नही है, कोई मुकाबला नही है। कोई इसे पराजित नही कर सकता। मनगढन्त बात इसने कैसी कही कि आपको स्वप्न आया, मुझे भी स्वप्न आया। मै भले ही गन्दे कुण्ड मे था, किन्तु मैं आपको चाट रहा था और आप मुझे चाट रहे थे।

सम्यक् दृष्टि इस ससार मे रहकर भी वीतराग की निर्मल वाणी का आनन्द लेता है, फिर भले ही वह परिवार मे है, समाज में है, जिम्मेवारियो मे है, शरीर मे है। शरीर मे मल-मूत्र, हाड-मास, रक्त-पित्त है और है क्या? इसमें जितने भी तत्त्व है, वे कौन से तत्व है। मल, मूत्र, वात, पित्त, कफ, रक्त, इन्ही का तो समुदाय है यह, इन्ही का तो खजाना है यह, और यही तो इस शरीर मे भरा पडा है। इन सबके बीच रहता हुआ भी जो वीतराग के वचनो का आलम्बन लेता

है वह अजर अमर आत्मा का जो सहज आनन्द है, उस रस को पीता है। जिस उस रस को पीने की कला नहीं आयी वह जगत को ही चाटता फिरता है जगत के पदार्थों को ही चाटता घूमता है। जगत की सत्ता और सम्पत्ति के लिए ही भिखारी की वृत्ति में घूमता रहता है भटकता रहता है। बार-बार पाने का प्रयत्न करता है। जितना पाता है छूटता है पाता है छूटता है, पाता है छोड़ता है। इस प्रकार एक अर्थहीन जीवन जी कर वह बिना ही जाता है।

जब तक सत्य-दृष्टि हममें नहीं आती जब तक तत्त्व-दृष्टि हममें नहीं आती जब तक आत्मदृष्टि हममें नहीं आती, तब तक जन्म-मरण-मय जीवन जीना कल्पना का विषय हो सकता है अनुभव का विषय नहीं। क्या नहीं हो सकता? इसलिए कि हर परिस्थिति का प्रभाव हम पर पड़ रहा है। हर रंग-रूप का प्रभाव हम पर पड़ रहा है। लम्बाई का और ठिगने कद का प्रभाव हम पर पड़ रहा है। वस्त्रों का प्रभाव पड़ रहा है। भोजन का प्रभाव पड़ रहा है। जो कुछ मिल रहा है उस सबसे प्रतिक्षण मन प्रभावित हो रहा है। प्रभावित इसलिए हो रहा है कि आत्म बुद्धि है देह में। तादात्म्य सम्बन्ध मान कर चल रहे हैं हम शरीर में। ऐसी स्थिति में हो यदि हमारे प्राण निकल गये और मनुष्य-जीवन के सुयोग का वियोग हो गया तो दुनिया की दृष्टि में उसका कितना भी उपयोग हुआ हो दुनिया की दृष्टि में हम कितने ही महत्त्वपूर्ण रहे हों किन्तु ज्ञानियों की दृष्टि में हमारे मनुष्य-जन्म का कीमत कौड़ी जितना भी नहीं है।

प्रभाव होना अलग चीज है और प्रभावित होना अलग चीज है। पुण्य का परिचय होना अलग चीज है और पुण्य से परिचय में आत्मा का प्रभावित होना अलग चीज है। पुण्य-पाप के परिचय में आत्मा जितना ज्यादा प्रभावित है उतनी ही ज्यादा अज्ञात है। परिचय तो रहेगा बहुत लम्बे काल तक रहेगा। शरीर जब तक रहेगा जब तक हम सिद्ध बुद्ध निरंजन निराकार न बन जाएं। तेरहवें गुण स्थान तक शरीर है। उससे पहले परिवार भी रहेगा, सुख दुख की अनुभूतियाँ भी रहेगी परिस्थितियाँ भी रहेंगी पर ज्ञानी जो होगा उसका रोना बन्द हो जाएगा। ज्ञानी जो होगा उसका हँसना भी बन्द हो जाएगा। एक सहज मुस्कराहट उसके मुखमण्डल पर रहेगी। चेहरे पर एक सहज आभा रहेगी। बुद्धि में हर समय सहज तत्त्व चिन्तन रहेगा। जगत् के दृश्यों को देख जगत् के स्वरूप का बोध उसे होगा। शरीर के ढाँचे को देख शरीर-स्वरूप पर दृष्टि उसकी जाएगी। शरीरस्वरूप पर जब उसकी दृष्टि जाएगी तब शरीर की अवस्था की व्यवस्था वह मानेगा किन्तु हेय और उपादेय दोनों बुद्धियाँ उसकी चली जाएँगी। छोड़ूं यह भाव भी चला जाएँगे और पकड़ूं यह भाव भी चले जाएंगे। जैसे बुढ़ापे की जर्जर अवस्था को व्यक्ति छोड़ना चाहता है और यौवन अवस्था को स्थायी रखना चाहता है। इन दोनों में उसका

उपलब्धि है। यदि उस अज्ञान से विराम नहीं मिला तो यह पचास-साठ वर्ष का भी एक पड़ाव है। जैसे मुसाफिर घूमते घूमते कई बार कई शहरों में जाते हैं और पड़ाव डालते हैं। बार-बार यही होता है। पड़ाव बदल जाते हैं। बदलते रहते हैं पड़ाव। एक वर्ष में कितने पड़ाव हमारे बदल जाते हैं? कभी यहाँ, कभी वहाँ कभी कहीं। कभी महल में कभी झोंपड़ी में कभी सड़क पर कभी टूटे फूटे मकान में। ना मालूम कैसे-कैसे लोग मिलते हैं, कितने कितने साधन मिलते हैं। कितने व्यक्तियों की प्रकृति का परिचय मिलता है, किन्तु पड़ाव का होता क्या है? छूटता जाता है। कितने ही पड़ाव छूट गये। एक वर्ष में कितने ही पड़ाव छूट जाते हैं कितने ही स्थान बदल जाते हैं कितने ही गाँव बदल जाते हैं कितनी ही आकृतियाँ बदल जाती हैं। (हमें साधु-जीवन में आकृतियाँ बहुत ज्यादा देखने को मिलती हैं। जितनी आकृतियाँ देखने को मिलती हैं उन सबको याद रखना बड़ा मुश्किल हो जाता है। याद जिसकी आकृति नहीं रह पाती वही व्यक्ति परेशानी का अनुभव करता है कि 'महाराज इतनी बार मिल गये फिर भी आपको हमारी याद ही नहीं हैं'।)

कितना याद करें कितनों को याद करें कहाँ तक याद करें? एक शहर में हजारों व्यक्तियों से परिचय होता है आकृति-परिचय। जो निकट सम्पर्क में आते हैं, जो बहुत ज्यादा आते हैं या कई बार मिलते हैं उनकी आकृतियाँ तो याद रह जाती हैं किन्तु मुझसे कोई पूछे कि एक वर्ष की पद-यात्रा में आप किन किन मकानों में रहे कहाँ कहाँ रहे तो कुछ याद नहीं रहता। हो सकता है फिर उस गाँव में गुजरें तो याद आ जाए। उस सड़क से गुजरें तो याद आ जाए किन्तु यहाँ रहते हुए कोई पूछे कि जैसलमेर से लेकर यहाँ तक पहुँचने में कौन-कौन से गाँव आये किस किस जगह रहे तो क्या याद रहेगा? मुझे तो क्या आपको भी याद नहीं रहेगा। इतना अधिक याद नहीं रह सकता।

ऐसे ही अतीत काल के पड़ाव हैं जो आज हम याद नहीं आते। आज का पड़ाव हमें याद है। आज का परिवार हमें याद है। आज का मकान ही याद है किन्तु यह पड़ाव तो बदल ही जाएगा। निश्चित रूप से बदल जाएगा। जिस दिन बदल जाएगा, उस दिन जिस दिन यह प्राण-पखेरू उड़ जाएंगे। प्राण-पखेरू उड़े नहीं और यह महल गिरा नहीं!! पतंग उड़ती रहती है आकाश में। कब तक उड़ती रहती है? जब तक हाथ में डोर है तब तक। डोर के सहारे पतंग उड़ती है और आयुष्य के सहारे शरीर टिकता है।

किसके सहारे टिके हुए हैं हम—आयुष्य के। जब तक आयुष्य है तब तक इस शरीर में टिके हुए हैं। जिस रोज हमारा आयुष्य समाप्त हो जाएगा देखते-देखते इस शरीर से हम उड़ जाएंगे। दुनिया कहेगी—मर गये मर गये, मर गये। मर गये यह दुनिया अनुभव

करेगी उस समय, मृतक अनुभव नहीं करेगा; क्योंकि वह तो फिर नये पड़ाव पर प्रस्थान कर देगा। उसे तो नये पड़ाव का फिर संयोग हो जाएगा। वह उस पड़ाव को पा कर फिर अनुभव करेगा। नये-नये परिचयों का अनुभव करेगा। गम का अनुभव तो कौन करेंगे, जो पीछे यहाँ रह जाएँगे वे। आँसू रहने वालों के निकलेंगे। याद करने वालों के निकलेंगे। जाने वाले के आँसू नहीं निकलेंगे। नया शरीर पाने के बाद आँसू निकलते हैं क्या? आज हम जितने व्यक्ति बैठे हैं, निश्चित कहीं से मर कर आये हैं। किसी एक परिवार के सदस्य की याद आ रही है क्या? किसी एक पूर्वपरिचित का नाम याद है क्या? मकान की याद है, दुकान की याद है, सामान की याद है? याद आ रहा है कि कितना सोना और कितनी चाँदी छोड़ कर आया हूँ? कोई बात याद आ रही है क्या? स्मृति नहीं है तो आँसू का प्रश्न ही कहाँ है? पहले इष्ट-वियोग की स्मृति होगी और जब स्मृति घनीभूत होगी तब आँसू आयेंगे। जब याद ही नहीं है तो आँसू कैसे? जाने वाले को आँसू नहीं आते, आँसू रहने वालों को आते हैं।

आप कहेंगे महाराज जाने वाले को भी आँसू तो आते हैं, कब आते हैं? जब तक इस परिवार से जुड़ा है वह तब तक टूटने के बाद नहीं आते। आप कहेंगे महाराज बच्चा रोता है, जन्मते ही रोना किसका प्रतीक है? वह दुःख का तो प्रतीक है; किन्तु उसका अपना दुखड़ा है। कौन-सा दुःख है कि जहाँ से वह आया है, जिस जगह रह कर आया है, जिस कालकोठरी में रह कर आया है, जितनी कम जगह में सिकुड़ा हुआ रह कर आया है, तो उसके दुःख से जब बाहर आया तो एक बार वेदना उसकी बह गयी। उसमें यह कोई वियोग की वेदना नहीं है। कोई स्मृति की वेदना नहीं है। कोई पदार्थ छोड़ने की वेदना नहीं है। वहाँ तो स्मृति ही नहीं है उसे। स्मृति नहीं है तो रोना कैसा? जब तक जी रहे हैं, तभी तक रोना-हँसना है, एक-दूसरे की साज-सम्हाल है, एक-दूसरे के शत्रु-मित्र हैं, एक-दूसरे के लिए मरने-मिटने को तैयार हो सकते हैं (शब्दों में)।

जब तक हमारा शरीर है तभी तक हम संघर्ष करते हैं, तभी तक झगड़ा करते हैं, तभी तक ईर्ष्या करते हैं, तभी तक लड़ाई करते हैं। तभी तक एक-एक चीज को सम्हाल कर रखते हैं। एक-एक चीज को सजाते हैं, बनाते हैं, जमाते हैं और देख-देख कर जीते हैं। जिन्दगी-भर उसी के दर्शन में आनन्द का अनुभव करते हैं। उसके वियोग की कल्पना भी यदि आ जाए तो मन परेशान होता है। वियोग की कल्पना में मन परेशान है। प्राप्त होगा या नहीं होगा, इसमें भी मन परेशान है।

एक व्यक्ति ने मुझसे प्रश्न किया कि महाराज, मेरी माँ के पास सोना है। दो सौ, चार सौ, पाँच सौ, कितने तोला सोना है, इसका तो अनुमान मुझे नहीं है; पर है जरूर। पर वह मेरे पास नहीं रहती है। बिचले भाई के पास रहती है। थोड़ा सोना बड़े भाई के पास पड़ा हुआ है। अभी तक उसकी पाँती नहीं हुई। हमारा मन इस निमित्त

को लेकर हर समय अशान्ति का अनुभव करता है। अशान्ति का अनुभव क्या करता है? पता नहीं किसके पास ज्यादा रह जाएगा? पता नहीं किसे मैं ज्यादा दे दूंगा? मुझे पूरा मिलेगा या नहीं मिलेगा? मिलेगा तो कब मिलेगा? मैं सत्तर वर्ष का हो गया महाराज पता नहीं कब मरूंगा? क्योंकि जब तक मरूं नहीं तब तक न छोड़ूं तो? वह कहने लगा—महाराज मैं बहुत दुःखी हूं बहुत अशान्त हूं। दिन में पचास बार ऐसा चिन्तन आता है। कब मिलेगा, कब मिलेगा, कितना मिलेगा, कब मिलेगा बराबर मिलेगा यही-यही विचार आते रहते हैं मुझे। कोई योग की बात व्याख्यान-श्रवण करते-करते बुद्धि ने ऐसा पलटा खाया और कहा महाराज मुझे नियम दिला दो संकल्प दिला दो। संकल्प लेना है कि माल के अधिकार में से मुझे अधिकार नहीं लेना है। नियम यह लिया था कि मुझे एक नया पैसा भी नहीं चाहिए। यदि बँटवारे के समय मेरे भाई ने जबर दस्ती भी दी तो भी मुझे अपने लिए और अपने लड़के-लड़कियों के लिए उस काम में नहीं लेना है। उन्हीं के हाथ से धर्मादे में लगवा दूंगा। संकल्प लिया। संकल्प लेने के बाद तीन चार वर्ष में उस व्यक्ति ने दस बार मुझे यह कहा कि महाराज इतनी शान्ति हो गयी है कि पूछिए मत। कोई विकल्प नहीं है। कोई परेशानी नहीं है। कोई चिन्तन नहीं है। यह विचार ही नहीं आता कि कुछ मिलेगा या नहीं मिलेगा? घाटा होगा या नहीं होगा? मैं कब मरूंगा कोई विचार नहीं आता। छुट्टी मिल गयी। क्या छुट्टी मिल गयी? इसलिए कि आसक्ति टूट गयी।

आसक्ति कैसे टूट गया कि मन ने उस धन का ममत्व छोड़ दिया। धन तो पहले भी पास में नहीं था। कल्पना-मात्र थी किन्तु ममत्व छोड़ दिया। ममत्व क्या छोड़ दिया कि मुझे नहीं चाहिए। नहीं चाहिए जब ऐसा मैंने विचार कर लिया और इसीलिए कर लिया कि एक तो यह हर पड़ाव में बार-बार मिलेगा बार-बार छूटेगा। मैं कितना बार रोऊंगा कितना बार हँसूंगा। कभी लाखों छोड़ कर आया हूं और कभी हजारों छोड़ कर जाऊंगा। इस छोड़ने और जोड़ने में जिन्दगी लगा रहा तो फिर महापुरुषों की वाणी के आधार पर जो आत्मतत्त्व चिन्तन का अमर मिलना चाहिए वह नहीं मिलेगा। नहीं मिलेगा और तत्त्व चिन्तन का उपयोग नहीं किया तो मेरी जिन्दगी ही बेकार चली जाएगी। संपूर्ण मनुष्य-जीवन पानी की तरह व्यर्थ हो जाएगा। इस तरह संकल्प के बाद मेरे जीवन में महाराज, बड़ी शान्ति मिल गयी।

कहने का तात्पर्य यह है कि शान्ति जब भी मिलेगी किसी को भी मिलेगी आसक्ति छोड़ने से मिलेगी आसक्ति को ग्रहण में नहीं मिलेगी। आसक्ति मात्र अशान्ति का कारण है। आसक्ति है इसलिए प्रतिकूलता अनुकूलता की सारी परिकल्पना है। यदि आसक्ति घट जाए तो अनुकूलता और प्रतिकूलता आपोआप खत्म हो जाएँगी। □□

—इन्दौर २२ सितम्बर १९८२

सत्सग-रुचि का वहुमान है। सत्सग-भक्ति हमारे जीवन को बदले, हमारे जीवन को परिवर्तित करे, हम आन्तरिक भावनाओ को बदल सकें ऐसा यदि हम प्रयास कर पाये कभी, तो निश्चित रूप से हमारा जन्म, जीवन और मृत्यु तीनो सार्थक हो सकते है। हम यदि सही ढग से जीवन जी लेगे, अच्छे ढग से जीवन जी लेगे तो मृत्यु के क्षणो मे हमे इस वात का सन्तोष होगा कि हमने जिन्दगी का ठीक से उपयोग किया।

उपयोग तो जिन्दगी का हर व्यक्ति करता है किन्तु जिसको जितना योग मिले, आपको सुयोग मिला है, मुझे सब को, मनुष्य-जिन्दगी का, मनुष्य-जन्म का —"नर तेरा चोला रतन अमोलक, वृथा काहे खोय"। सन्त तुलसीदास का साहित्य पढे, सूर मीरा का पढे, चाहे कवीर या गुरु नानक का पढे, 'भागवत' पढे या 'भगवती' पढे, सभी ने एक स्वर मे मनुष्य-जीवन के महत्त्व को गाया है।

प्रश्न है, क्या हम सन्तो को उस दृष्टि को समझ पाये है? नही समझ पाये हो ऐसी वात तो नही है, फिर सवेरे से शाम तक हमारी अनेकविध क्रियाएँ होती है। इन क्रियाओ मे हम लगे रहते हैं—यानी इस जिन्दगी का उपयोग तो निश्चित है, नही है, ऐसी वात नही है। जिन्दगी का उपयोग है, किन्तु देखना होगा कि यह विनाश मे है या विकास मे है, ध्वसात्मक प्रवृत्तियो मे है, या सृजनात्मक प्रवृत्तियो मे है, जीवन-निर्वाह मे है, या जीवन-निर्माण की दिशा मे।

जिह्वा का उपयोग घर-परिवार की वातो मे, समाज की चर्चा मे, राष्ट्र की चर्चा मे, व्यापार-धन्धे की चर्चा मे तो हो रहा है, खूव हो रहा है, किन्तु क्या एक-दो घण्टे का समय इस जिह्वा का अरिहन्त-स्वरूप की चर्चा मे होता है? क्या सिद्ध-स्वरूप के विश्लेषण मे होता है? जिन्होने अपने जीवन का निर्माण किया उन महान् व्यक्तियो का चरित्र पढने-पढाने के क्या काम आती है? क्या यह कुछ समय के लिए अपने आराध्य का नाम लेने मे काम आ रही है? उपयोग तो है। वोलते पूरे दिन हैं।

वहुत सारे लोग है, जो ज्यादा वोलते है, जरूरत से ज्यादा वोलते है, अकारण वोलते है, विना जानकारी के वोलते है। अप्रमाणित वोलते है; अप्रामाणिक भाषा मे

बोलते हैं। अधिकांश असमय बोलते हैं। कई व्यक्तियों की प्रवृत्ति होती है कि बात हो इतनी और बना दें उतनी। पल भर में गज का गज कर दें। किसी ने एक वाक्य कहा, किन्तु कई व्यक्तियों को आनन्द ही इसमें आता है कि कुछ शब्द अपनी ओर से जोड़ें। वह अप्रामाणिक है। ऐसे व्यक्तियों की भाषा पर समझदार कभी विश्वास नहीं करते। कितने व्यक्ति बोलते हैं नपे-तुले शब्दों में, पूर्ण बात की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त कर? जिह्वा हिलती है वह हर समय हिलती है किन्तु कितने हैं ऐसे लोग कि जिनके बोलने का कोई मूल्य होता है? कभी कोई कह दे कि आपके लिए इस व्यक्ति ने यह कहा तो सब से पहले आप पूछेंगे किसने कहा?'' अरे साहब अमुकचन्दजी ने कहा। अरे रहने दो बाबा, क्या धरा है उनकी बातों में। ढोंग ढकोसला काम है उनका। ढोंग ढकोसला उनका काम है। यह टाइटिल यदि हमें मिल गया तो हमने वाक्शक्ति का क्या सदुपयोग किया? भाषा का क्या सही उपयोग किया?

यदि हमने जीभ का उपयोग दूसरों के घर में आग लगाने में किया, झगड़ा कराने में किया, देवरानी जिठानी को लड़ाने में किया, सास-बहू को उलझाने में किया, दो मित्रों में मन-मुटाव पैदा करने में किया, तो यह जीभ का उपयोग तो है पर कैसा उपयोग है? यह वाणी का ह्रास है या विकास? शब्द शक्ति का यह गलत उपयोग है या सही? कैसा है? हम उपयोग तो करते हैं किन्तु उपयोग सत में हो रहा है या असत में उचित हो रहा है या अनुचित प्रयोजन से हो रहा है या निष्प्रयोजन आवश्यक हो रहा है या अनावश्यक, जरूरत पूरती हो रहा है या जरूरत से ज्यादा क्या हम तोलते हैं? आज कितने ऐसे लोग हैं कितने ऐसे व्यक्ति हैं जो उम्र की अपेक्षा वृद्ध हो चुके हैं। किसी की अपेक्षा? शब्दों पर ध्यान दें। 'उम्र' की अपेक्षा क्योंकि आत्मा न जनमता है न मरता है न वृद्ध होता है। आत्मा का न कोई बचपन है न उसकी कोई जवानी है। वह सनातन है। शुद्ध आत्मतत्त्व है। वह सदा था है। सदा रहेगा। अन्तर है तो इतना कि आप हम, सभी कर्म-सयोगी आत्मा हैं। सिद्धों की आत्मा कर्म रहित शुद्ध आत्मा है किन्तु आत्मा का अस्तित्व वहाँ भी है आत्मा का अस्तित्व हममें भी है। यह अनुभूति आत्मा का गुण है। जानना और देखना आत्मा का स्वभाव है। यदि इस शरीर में से सच्चिदानन्द निकल जाए तो फिर यह मात्र एक नश्वर है मात्र शव है श्मशान की धरोहर दो-चार घण्टों में जलकर दो-चार किलो राख होने लायक पदार्थ है।

जब तक चिद् शक्ति है बुढ़ापा किसको आया? 'मैं बड़ा हो गया' यह वाक्य यह शब्द किसके हैं? जिसने आत्मा को नहीं पहचाना। शब्दों में तो कह गये कि मैं वृद्ध हो गया किन्तु उसको यह प्रतीति होगा कि शरीर वृद्ध हुआ है मैं नहीं। कितने ही व्यक्ति वृद्धत्व आने पर कामकाजी नहीं रहते, कामयाब भी नहीं रहते। दूसरों की जरूरत पूरी कर सकें, ऐसी शारीरिक स्थिति उनकी नहीं रहती किन्तु जो हम में ज्यादा बोलते रहते हैं जो वृद्धत्व आने पर उनकी जान तुला सा दूसरों का वचन

नहीं है। वे अधिक बोले, परिवार का सदस्य ऐसा चाहते भी नहीं है, फिर भी आदत जो बन चुकी है। बोलते रहना, बोलते रहना, बोलते रहना, प्रयोजन मे नही, निष्प्रयोजन। मुझे लगता है साठ-सत्तर वर्ष की उम्र के बाद व्यक्ति चाहे पुरुष हो, चाहे स्त्री जरूरत से बहुत कम बोलता है, बिना जरूरत बहुत ज्यादा बोलता है, प्रयोजन मे कम बोलता है, निष्प्रयोजन अधिक बोलता है।

आप कहेंगे, ऐसा क्यो है ? जिसकी उम्र सत्तर वर्ष की हो चुकी है उनके बेटे भी चालीस के निकट आ चुके होंगे। कही-कही तो पैंतालीस के निकट भी आ गये होंगे। बेटे के बेटे भी, बीस वर्ष के हो गये होंगे। ऐसी स्थिति मे उनकी स्वय की कार्य-क्षमता विकसित हो गयी। ऐसी स्थिति मे उनकी स्वय की उम्र परिपक्व हो गयी। वह स्वय कमाने मे भी समर्थ है, सामाजिक प्रवृत्तियो को निभाने मे भी समर्थ है, घर-गृहस्थी चलाने मे भी समर्थ है, किन्तु उसके बाद भी जिसका गृहस्थी का रग-राग कम नही हुआ, जिसको अधिकार की भावना छोडते जी दुखता है, जिसने आत्म-तत्त्व को समझा नही, वह आत्मा चाहे पुरुष हो चाहे नारी वह यही सोचता रहता है कि कोई भी कुछ करे, हम से पूछ कर करे। सामने वाला कर रहा है बराबर कर रहा है, व्यवस्थित कर रहा है, ठीक से कर रहा है। वह स्वय भी सोच रहा है कि काम जो हो रहा है मुझ मे भी इक्कीस ही हो रहा है, उन्नीस नही; फिर भी कहेगा—'देखो, देखो बाबू जो काम करो, ठीक से करना'। अरे, जब आप जान रहे हैं कि वह सारा काम ठीक से कर रहा है, किन्तु बोलना है कुछ भी। निष्प्रयोजन। इसी तरह कहेंगे—'देखो चार मेहमान आने वाले है। रसोई बनाना, अच्छी बनाना।' जबकि उन्हे विश्वास है कि रसोई अच्छी ही बनेगी, पर आदत है बोलने की। उन्हे मालूम है कि चार सब्जियाँ बनेगी। घर के वातावरण मे वे परिचित हैं, अनुभव है उन्हे अपने घर का। इसके बाद भी बेजरूरत पूछते हे—'क्या साग बनाओगे ? क्या सब्जी बनेगी ? कितनी बनेगी ?' प्रयोजन तो नही है बोलने का। न बनाना है, न बाजार से लाना है, न पैसे देना है फिर भी जिन्दगी-भर आदमी जिस वातावरण मे रहता है, जिन प्रवृत्तियो मे रहता है, जिन निमित्तो मे रहता है उन प्रवृत्तियो की उसे लत पड जाती है आदत हो जाती है, इसीलिए बकवास करता है। कभी-कभी तो उन्हे यहाँ तक सुनना पडता है 'आप चुप रहिए सुन लिया न एक बार'। क्या ये शब्द सम्मान और स्वाभिमान के है ? कई लोक कहते है आपको करना-धरना तो कुछ है नही फिर व्यर्थ मे डेढ पच क्यो बनते है ? बीच-बीच मे टाँग क्यो अडाते है। हम जाने हमारा घर जाने, हमारा रसोई घर जाने, हम अपना देख लेगे। यह क्या है ? अपने-आप अपना अपमान कराना है। अपनी आदत से ही परिवार मे अप्रिय बनना है। बिना जरूरत के बोझ लाद रखा है। बुढापे मे जो व्यक्ति जरूरत से ज्यादा बोलता है, निष्प्रयोजन बोलता है उसका बोलना भी अप्रिय लगता है। कही-कही तो मजाक भी बन जाती है, किनकी?

उनकी जो अधिक बोलने है। बाबा का तो टेप रेकार्डर का बटन न्न गया। अब तो चालू ही रहेगी आवाज। जब जमे मेरी भी जिह्वा (वाक्‌शक्ति) का जो उपयोग है एक घण्टे तक वह चालू रहेगा। यह भी एक आदत हो गयी है रोज रोज बोलने की पर हम जरा विचार करें कि हमारा इस शक्ति का जरूरी उपयोग कितना हो रहा है गैरजरूरी कितना? मुझे लग रहा है हमम कभी ऐसा विचार भी आता होगा कि यह तो वृद्धावस्था के लिए कहा जा रहा है किन्तु याद रखना कि किसी समय में वृद्ध भी हमारे हो उम्र में थे। बीच की उम्र म अधिक बोलने की आदत होगी इसलिए बुढ़ापे में ज्यादा बोलते हैं। उन्हें कुछ नहीं समझाना है समझना हम है। बीच की उम्र वालों को। वृद्ध की जो आदत है है। यदि उनकी कोई आदत आपको अच्छी नहीं लगती है तो उस समय (जब आप वृद्ध हो) आपकी वह आदत न रहे इसका अभ्यास आज से करना है। अभी इस क्षण से करना है क्योंकि अभी स अभ्यास करेंगे अभी से विवेक रखेंगे अभी जरूरत जितना बोलेंगे तो बात बनेगी। किसी ने कहा कि दादिया न पढ़ने बैठने से तो ठीक से पद भी नहीं सकते। क्या? क्योंकि घर क्या, हम कमरा वही मिलता है जिसमें दादी मा बैठती है। कुछ-न-कुछ बोलती ही रहती हैं, पढ़ने ही नहीं देती। किसी ने प्रस्ताव किया कि दादी मा माला फेरनी चाहिए तुम्हें। वे बोला-'माला तो मैं फेरती हूँ पर वह तो पूरी हो गयी। इस पर किसी पोते ने कहा- जितना बड़ा मकान है दादी मा उतनी बड़ी माला मैं बनवा दूंगा आपके लिए, जो सबेरे-से शाम-तक पूरी हो न हो'। माला इतनी बड़ी होनी चाहिए कि दिन पूरा हो जाए किन्तु वह पूरी न हो। इसका अर्थ क्या है? यही न कि हम पहले से ही मौन का अभ्यास करना चाहिए। कम बोलने की आदत डालनी चाहिए।

जितना जरूरी हो उतना बोलने का अभ्यास डालना चाहिए। क्या बालक क्या युवा, क्या वृद्ध, सत्संग में जो भी व्यक्ति आते हैं अपने सुधार के लिए आते हैं किन्तु सत्संग-श्रवण की योग्यता न होने से उस समय भी व्यक्ति स्वयं अपने दोषों पर नजर न रखते हुए दूसरों की आलोचना करता है यह कि उसकी आदत ऐसी है उसकी कमी है, इसकी ऐसी है। यदि मैं पूछ बोलती हूँ तो आप स्वयं देखें कि आप यहाँ बैठे-बैठे किसी-न-किसी का चिन्तन अवश्य कर रहे होंगे कि वे ज्यादा बोलते हैं वे ज्यादा बोलते हैं वे ज्यादा बोलते हैं, क्योंकि सत्संग में आकर भी हम 'स्वयं-स्वयं-से' नहीं जुड़ते। हमारा मन दूसरों की ओर गया तो क्या हमने कभी यह देखा कि हम स्वयं ज्यादा नहीं बोलते हैं क्या? क्या हम जरूरत से ज्यादा नहीं बोलते? क्या हम बिना प्रयोजन नहीं बोलते? क्या हम पूरे दिन बोलते रहते हैं?

जो जरूरत से ज्यादा बोलता है जो अनावश्यक बोलता है वह असत्य बोलता है अप्रिय बोलता है। उसकी जिह्वा घर मिटाने में निमित्त बनती है मित्रता छुड़ाने में निमित्त बनती है झगड़ा कराने में निमित्त बनती है जिह्वा का उपयोग तो हो

किन्तु सदुपयोग हो। हम तीन-चार दिनो से जिस कथानक को सुन रहे हैं, उसमें कल हमने सुना कि मदनरेखा नदीश्वर द्वीप मे विद्याधर के माध्यम से पहुँच गयी। कुछ पूर्व कथाश वता दूँ कि मदनरेखा युगवाहु की पत्नी है और युगवाहु का वडा भाई मणिरथ राजा है। मदनरेखा के रूपरग से प्रभावित हो कर मणिरथ ने युगवाहु की हत्या कर दी, ताकि मदनरेखा उमके अधिकार मे आ जाए। कारण को ममझने वाली मदनरेखा ने स्वय को राजकीय वातावरण से अलग कर लिया, इसलिए कि उमके पति की हत्या का कारण उसका रूप है। स्थूल निमित्त।

जिन्दगी मे उतार-चढाव आते है। वह जगल मे वच्चे को जन्म देती है। वच्चे की सुरक्षा का दायित्व लिया है राजा पद्मरत्न ने। हुआ यो कि मदनरेखा ने शिलापट्ट पर वच्चे को सुला दिया था और दूर से देख रही थी कि इसकी सुरक्षा का क्या होगा? पहले व्यवस्था हो जाए, फिर मैं जाऊँ। उसके देखते-देखते राजा पद्मरत्न और उसकी रानी वच्चे को ले भी गये और खुशियाँ मनाते हुए ले गये। सोचा कि एकाएक यह वच्चा हमे मिला है यानी प्रकृति ने हमारी सुनी गोद भर दी है। उस उत्तरदायित्व से भी वह निश्चिन्त हो गयी।

एक मदोन्मत्त हाथी, जिसने आगे चलते हुए उसे (मदनरेखा को) उछाल दिया। जिस विद्याधर ने उसे इस सकट मे सभाला उसने उन क्षणो मे कहा– 'देवि! यदि तुम जमीन पर गिरती तो तुम्हारी मृत्यु हो जाती। मैने तुम्हे वचाया है। तुम्हारे जीवन की रक्षा की है। मेरी कामना पूरी करो।' मदनरेखा ने पलक-मारते समझ लिया कि इसके शब्दो मे विकार है। मन मे कपट वोल रहा हे। ओ हो!! यह मेरा शरीर! यह रूप-रग!!! जिन्हे आत्मा का ज्ञान नही है, जिनकी नजर चमडी पर ही है, ऐसे लोग हर समय आते-जाते, घूमते-फिरते किसी-न-किसी के शरीर के शोभन अगो पर आँख जमा देते हे और नामालूम कितना कर्म-वन्धन करते है? विना खाये, विना भोगे पापकर्म वाँधते है। मेरी त्वचा के कारण, त्वचा के आकर्षण के कारण, मेरे जेठजी का विवेक खो गया और उन्होने मेरे पति की हत्या कर दी। मैंने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए स्वय को सव ओर से दु ख मे डाला। राजसी ठाठवाट छोडे, फिर यह योग क्यो वन रहा है? फिर यह विद्याधर इस भाषा मे मुझे क्या सकेत दे रहा है? उसने सोचा कि फिलहाल मेरे सामने कोई समाधान नही है। मैं एकाकी हूँ। ऐसी स्थिति मे ऊँट-पटाँग वोलना वेमतलव है। कैसे भी, मुझे चतुराई से कोई समाधान करना है। उसने विद्याधर से पूछा–'तुमने कहा कि मैंने तुम्हारी रक्षा की है, इस वात मे कोई दो मत नही है। तुम्हारा कथन है कि जिस तरह तुमने मेरे शरीर की रक्षा की है वैसे ही मै भी तुम्हारे मन को महत्त्व दूँ, किन्तु आपसे मेरी एक प्रार्थना है कि आप वताये कि आपका आगामी कार्यक्रम क्या है, आप कहाँ जा रहे हैं? किसलिए जा रहे है? कृपया अपने कार्यक्रम की रूपरेखा मुझे

बनायें ?' विद्याधर ने कहा—'मैं जा रहा हूँ नंदीश्वर द्वीप। शाश्वत चैत्य की वन्दना के लिए। अरिहन्त और सिद्धों की भक्ति के लिए। जन्म जरा मरण आधि व्याधि की उपाधियों से जो सदा-सदा के लिए मुक्त हो गये हैं उन शुद्ध आत्माओं की भक्ति करने के लिए। फिर वहाँ से यहाँ आऊँगा ? मेरे गुरु पिता जो मुनि बन चुके हैं महान् आध्यात्मिक सन्त हैं त्यागी और तपस्वी हैं उनकी वन्दना के लिए।

मदनरेखा ने ठंडी साँस ली कि आगामी कार्यक्रम तो इसका बड़ा अच्छा है। मुझे आशा है अब मेरी रक्षा हो जाएगी। उसने कहा—विद्याधर मेरी एक भावना है। भावना है कि आप तीर्थ पर जा रहे हैं मुनियों की वन्दना को जा रहे हैं मेरी भी रुचि है तो पहले इस शुभ निमित्त का उपयोग किया जाए। पहले अपनी आत्मा को दर्शन गुरु के चरणों में अर्पित किया जाए और फिर इस जीवन का ज्ञान का जाए। विद्याधर ने सोचा—आज नहीं कल नहीं परसों आखिर है तो यह मेरे अधिकार में। यदि शान्तिपूर्वक यह काम निकल आता है तो मैं भी क्यों जबरदस्ती करूँ ? उसने कहा—ठीक है। पहुँच गये। मन्दिरजी में दर्शन कर रहे हैं। इतना कथा प्रसंग कह ही चुका था।

मन्दिर में दर्शन करते मदनरेखा अपनी शक्ति का उपयोग कर रही है। बात तो यही भी यही कह रहे हैं कि हम वाणी का सदुपयोग करें। उपयोग तो करते हैं जितने भी पुण्य निमित्त हमें मिले हैं पर प्रभु-स्मरण में महापुरुषों के चिंतन में उनके जीवन चरित्र को पढ़ने में, स्वाध्याय में हमारे समय का उपयोग कितना होता है वहाँ तो उपयोग की बात भी अच्छी नहीं लगती। वहाँ मन घबराता है, ऊबता है। यदि व्यक्ति तो ऐसा है जिनकी रुचि नहीं है। वे अपनी रुचि का दिखावा न लगा मायाचारी करते हैं और कह देते हैं कि अब शास्त्र सुनकर घर मंदिर में जा कर दान करना हम नहीं चाहते। इसी प्रकार दूसरा अच्छा नहीं लगता। इस कारण यह व्यक्ति यदि कहता है जो स्वयं घर में बैठ कर एकान्त स्थान में अरिहन्त-स्मरण करना है तो किसी आत्मा के लिए वन्दना अच्छा हो सकता है फिर भी मन्दिर जाने वाले ढोंग करते हैं यह बात तो ठीक नहीं है। फिर तो ऐसा दुनिया कहती है। ध्यान के लिए भी जो रहते थे दीक्षा के लिए भी तो हम ऐसा घर में भी ना रह हो विचार धारा में भी जो रहे हो इस तो आगे कहेंगे कि यह सार्वजनिक उपक्रम है सामाजिक व्यवस्था में आत्म-साधना का क्या सम्बन्ध ? मन्दिर में जो भी आते हैं अपने मन को पवित्र बनाने के निमित्त आते हैं। उनके भावों की शुद्धि होती है।

आप कि जब हमारा आत्मा किसी रूप में ऊपर नहीं उठ पाता तब तक हमारे मन को हर निमित्त प्रभावित करता है। सदाचार अशुभ निमित्तों से बचने के लिए इन सभी निमित्तों का आश्रय लेना है। मन्दिर माना जाता है कि यहाँ का वातावरण पवित्र है यहाँ का वायुमण्डल पवित्र है। यहाँ आने वाले अरिहन्त प्रभु का

भक्ति करते है। वहाँ आँखे अरिहन्त मुद्रा को देखेगी। कान अरिहन्त की महिमा को सुनेगे और जीभ से भी अरिहन्त की जाप होगी। घर मे बैठ कर वह भाव आये, न आये, किन्तु मन्दिर मे तो आयेगा ही। होता ही यह है। जैसे ही हम वहाँ जाते है–'नमस्कार हो, पार्श्वनाथ स्वामी को नमस्कार हो, महावीर स्वामी को नमस्कार हो'। ऐसे शब्द आपोआप निकल जाते हैं। सस्कार है। वहाँ हम नमस्कार की भावना से जाते है तो उन क्षणो मे जो हमारे पवित्र भाव आते है, उनसे हमारे सस्कार बनते है। आपोआप बनते है।

मदनरेखा भी स्तुति कर रही है। कर रही है कि 'हे प्रभो, मेरी आत्मा भी वास्तव मे मूल रूप मे तो आप ही की तरह है, किन्तु मैं कर्म-संयोगी आत्मा हूँ, आप कर्म-विरहित आत्मा है। मेरी शक्ति अव्यक्त है, आपकी व्यक्त है, इसीलिए हे प्रभो मै तुम्हारे द्वारे आयी हूँ। भक्ति कर रही हूँ। स्तोत्र बोल रही हूँ। मनोयोग लगा रही हूँ। वचनयोग लगा रही हूँ। तीनो योगो की एकता से अरिहन्त-भक्ति मे तल्लीन हूँ। ऐसी भक्ति करते हुए अरिहन्त स्तुति करके, चैत्य-वन्दन करके विद्याधर के साथ वह पहुँच गयी वहाँ जहाँ मुनिराज विराजते थे। दर्शन करने के लिए जैसे ही गये, व्याख्यान चल रहा था। हजारो नर-नारी वीतराग-देशना सुन रहे थे। मुनि भी विशेष आत्म-साधक, मन पर्यय ज्ञानी थे। मन पर्यय ज्ञानी का अर्थ क्या है? मनोगत भावो को जानने की जिनमे शक्ति हो अर्थात् जिनकी आत्मा इतनी पवित्र हो गयी हो कि जो दूसरो की मनोभावनाओं को जान सके उन्हे मन पर्यय ज्ञानी कहते हैं।

ज्ञान के पाँच भेद है मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय, और केवल। मन पर्यय ज्ञान का अर्थ है–'मनोगत भावो को जानना'।

सभा मे आ कर जैसे ही बैठे मुनि ने, मनोगत भावो को जान लिया। जाना कि यह विद्याधर, इसके साथ जो नारी है, उसके मनोभाव क्या हैं? जानते ही उन्होने अपने प्रवचन मे यही विषय ले लिया। कहने लगे-मनुष्य वही है जो सदाचारी हो। मनुष्य वही है जो परनारी पर लुभाता नही। मनुष्य वही है जो अपनी मर्यादा मे रहता है। मर्यादाहीन जीवन जीना पशुओ का काम है। इन्सान के जीवन मे, कार्य-क्षेत्र मे कोई मर्यादा, कोई सीमा, कोई विभाजक रेखा होती है, और उसका उल्लघन जो करता है वह सदाचारी नही है। उन्होने यह विषय लिया और ब्रह्मचर्य की महिमा गायी कि मनुष्य-जीवन पा कर करने योग्य कार्य है पाँच इन्द्रियो के विषयो को क्षीण करना, उनका निरन्तर क्षय करना; क्योकि आहार, भय, मैथुन, और परिग्रह, सज्ञाओ का योग आज से नही, अनन्त काल से है। इन सज्ञाओ के अधीन होकर ही हमारी सारी प्रवृत्ति है, आचरण है तो जिसे हम महत्त्व देगे वह निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण बना ही रहेगा। जिस

वृक्ष को हम प्रतिदिन सींचेंगे, वह सदा हरा भरा रहेगा। यदि वृक्ष को सुखाना है तो पहले जड़ में पानी डालना बन्द कराना होगा। जड़ में पानी डालना कम करेंगे तो निश्चित रूप से एक दिन वृक्ष सूख जाएगा, किन्तु यदि जड़ में पानी डालना ही हमने कम नहीं किया तो फिर ऐसा कैसे होगा?

जो भी हमारे मनोरथ हैं उन की पूर्ति में यदि हम जीवन भर लगे रहेंगे तो हमारा पांच इन्द्रियों के विषयों में जो रस है जो राग है वह कभी कम नहीं होगा। कम कब होगा? जब हम संकल्प-पूर्वक इच्छा-पूर्वक उस पदार्थ के प्रति जो मोह है उसे तोड़ने के लिए पदार्थ का परित्याग करेंगे। यदि पदार्थ का त्याग किया और पदार्थ के राग का त्याग करने का विचार नहीं आया तो फिर उसमें रस आने लगता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पदार्थ-त्याग तो हुआ किन्तु पदार्थ त्याग के बाद उसके स्वाद के प्रति जो एक उदासीनता आनी थी वह नहीं आयी। क्यों नहीं आयी? क्योंकि रस नहीं सूखा। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है बुद्धि-पूर्वक त्याग ही वास्तविक त्याग है। पदार्थ-त्याग जरूरी है, किन्तु वह पदार्थ के प्रति रस को सुखाने के लिये जरूरी है अर्थात कालान्तर में हमारा मनःस्थिति ऐसी हो जाए कि पदार्थ सामने हो, किन्तु उसका राग हमारे मन में न हो। ऐसी अवस्था जब तक नहीं आती तब तक उस पदार्थ का त्याग तो हो जाता है किन्तु उसके राग का त्याग नहीं होता। पदार्थ के राग का त्याग नहीं होता तो पदार्थ को खाये या पाये बिना भी उसके राग का कर्म-बन्धन होता रहता है। आप कहेंगे ऐसा कैसे होता है? होता है।

मान लीजिये आज से दस वर्ष पूर्व आपने कोई पदार्थ खाया। बहुत रस लेकर खाया। वह बहुत ज्यादा पसन्द आया। दस वर्ष बीत गये, किन्तु इसके बाद भी यदि उसी क्वालिटी का पदार्थ खाने के लिए हम बैठते हैं और उसके स्वाद का विचार करते हैं तो हमारा जो उस पदार्थ का रस है वह रस हम दस वर्ष पहले खाये हुए पदार्थ की याद दिला देता है। मन कहता है कि मैंने आज हमने खाया और भी कई बार खाया, किन्तु दस वर्ष पहले खाने में उस क्षण हम जो आनन्द आया था वह आनन्द आज तक नहीं आया। उस पदार्थ के रस का राग आज भी भीतर बना हुआ है। पदार्थ तो नहीं है किन्तु पदार्थ में जो स्वाद आया, उस स्वाद की महिमा आज भी हमारे मन में है। यदि यह महिमा हमारे मन में है तो कर्म-बन्धन है।

हो सकता है कोई प्रश्न करे कि आज हम याद आया इसलिए तो हमारे कर्म-बन्धन हुए किन्तु विगत दस वर्षों तक क्या हम उस स्वाद को माला फेरते रहे हैं? याद भी नहीं रहा। कोई जरूरत नहीं। शताधिक वर्ष तक कभी कल्पना में भी नहीं आया। फिर उसका बन्धन कैसे? बंध है निश्चित है। व्यक्त नहीं,

किन्तु अव्यक्त बहुमान उसका बना हुआ है। यदि उसका बहुमान नहीं होता तो दस वर्ष बाद याद वह कैसे आया? याद आता है, इसीलिए कि अव्यक्त भावो मे उसका बहुमान ज्यो-का-त्यो है। किसका ? उस रस का, वैसे स्वाद का; इसलिए कर्म-बन्धन खाया तब तो हुए ही थे, आज तक भी होते रहे है, इसलिए कहते है कि ज्ञान-पूर्वक त्याग ही तप है। सम्यग्ज्ञानपूर्वक आराधना ही आराधना है, क्योकि सम्यग्ज्ञान होने के बाद पदार्थ के प्रति इतने लम्बे काल तक राग टिकता नही।

सम्यग्ज्ञान, सम्यक्दर्शन हुए बिना पदार्थ छूट जाता है, पर पदार्थ का राग नही छूटता। हमे पदार्थ मे भी छोडना है, और उसका राग भी छोडना है।

कभी-कभी मैं विचार करती हूँ, चिन्तन करती हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि काफी प्रबल पक्ष इस विचारधारा का है कि जब तक राग न छूटे, वहाँ तक त्याग करने से क्या लाभ? कितने ही लोग ऐसे है कि जो राग को छोडे बिना ही त्याग करते रहते है? मुझे ऐसा लगता है कि दोनो ही पक्ष, जिनमे मै भी शामिल हूँ, अधूरे है। अधूरे इस अर्थ मे कि एक पक्ष मे क्रिया की बहुलता है, त्याग-तप की बहुलता है, दूसरी परम्परा मे त्याग तो बहुत देखा जा रहा है, किन्तु स्वाध्याय की कमी नजर आती है, जहाँ स्वाध्याय हो रहा है, वहाँ त्याग-तप कम दिखायी देता है। आशय यह है कि दोनो ही पक्ष यथास्थान महत्त्वपूर्ण पदार्थ के छोड बिना पदार्थ का राग नही सूखेगा। लक्ष्य राग को सुखाने का ही रखे। मान लीजिये कि दस वर्ष पहले मुझे मिठाई खाने मे रस आता था। मैने त्याग कर दिया। अब आज जब मेरे सामने मिठाई आती है और मुझे उसे खाने के भाव नही आते तो समझ लेना चाहिये कि त्याग के साथ ही उसमे हमारा राग भी नही रहा है। पदार्थ को छोडने के लम्बे काल के बाद भी पदार्थ के राग छूट भी जाते है और ज्ञान-पूर्वक जल्दी भी छूट जाते है, इसलिए लक्ष्य तो वह रखना चाहिये पर इसका यह अर्थ नही है कि वह स्थिति जब तक पैदा न हो तब तक हम उस आचरण को ही न करे तो फिर हम कमजोर रह जाएँगे। दुर्बल रह जाएँगे। प्रमादी रह जाएँगे। त्याग-तप जीवन मे आयेगा ही नहीं, इसलिए वह नही आयेगा, चूँकि आचरण हम कब करेंगे, जब आत्मा का ज्ञान होगा और कहीं आत्मज्ञान हुए बिना यह जिन्दगी खत्म हो गयी तो? आत्मा का ज्ञान करने का लक्ष्य निश्चित रखना है, किन्तु लक्ष्य के साथ ही त्याग-तप भी करते रहना है, क्योकि जब तक शुद्ध मे उसका उपयोग न बने तब तक शुभ मे ही होना अच्छा है।

शुद्ध मे उपयोग टिकाना, हमारा परम उद्देश्य है, परम लक्ष्य है। लक्ष्य कभी विस्मृत नहीं होना चाहिये, किन्तु जब तक वह प्राप्त न हो तब तक शुभ क्रिया

करते रहना चाहिए। यदि शुभ में आप मर गए नहीं शुद्ध को आपने किया नहीं तो क्या होगा? अशुद्ध में ही रहोगे?

सम्यक् दर्शन चारों गतियों में हो सकता है। देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक गति में होता है। जब यह चारों ही गतियों में होता है तो फिर मनुष्य की महिमा ही क्या? मनुष्य का महत्व ही क्या? जब सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति चारों गतियों में सम्भव है तो फिर मानव-जीवन की क्या विशेषता है?

मान लीजिए सम्यक् दर्शन प्राप्ति के प्रयत्न में व्यक्ति पुरुषार्थ कर रहा है और वैसा करते-करते सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के निकट भी पहुंच गया और प्राप्ति से पूर्व ही उसका अंश कम पूरा हो गया तब? ध्यान रखियेगा श्रोताओ। सम्यक्दर्शन को आप समझ लीजिये—'आत्मज्ञान'। आत्मा का ज्ञान, जगत का ज्ञान एवं शक्ति विशेष का ज्ञान। सत्संग प्रेमी बहिन भले ही किसी भी जाति की न हो मगर मेरा अपना है इसलिए जाति की समझती है। आत्म-ज्ञान के ब्रह्म-दर्शन के लिए साधना करते-करते ब्रह्म-दर्शन या आत्म-ज्ञान या सम्यक् दर्शन तो दूर रहा और सम्यक् होने से पहले आयुष्य पूरा हो गया, काम अधूरा रह गया और आयुष्य पूरा हो गया। ऐसे में आत्मा अपने संस्कार को साथ ले कर जाती है। ऐसे ही जीव को नरक और तिर्यंच गतियों में यह ब्रह्मज्ञान और सम्यक्दर्शन होता है जिसने मनुष्य जीवन में विशेष रूप से उसकी आराधना की है। यदि मनुष्य-जीवन में साधना उसने शुरू नहीं की है तो उसे नरक और तिर्यंच गतियों में कोई अवसर नहीं है आत्मज्ञान का। सम्यक् दर्शन का लक्ष्य तो रखना ही चाहिए, आत्मज्ञान को तो महत्वपूर्ण मानना ही चाहिए क्योंकि बिना आत्मज्ञान के क्रिया पुण्य आश्रय तक ही रह जाएगी। अतः उस लक्ष्य को गौण नहीं करना है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसी लक्ष्य में रख कर जप-तप भी करते रहना है। ऐसे नहीं कि तुम्हारी महान मंगल से नाम तक दौड़ा तीन-तीन बार आते हैं। एक क्षमा, उपवास न करें, आयंबिल न करें, यदि नहीं करेंगे यह सब तो क्या छूटेगा पाप?

प्रारम्भ में तो इस मन को ऋजुता से समझाना पड़ेगा। प्रत्याख्यान से बांधना पड़ेगा। मनुष्य का मन बच्चा है। उसे पकड़ कर में रखना पड़ेगा। उसके उछल-कूद नियम के बन्धन पर भी बांधना पड़ेगा। नियम रूपी सहारे से बहुत कम ही जो उछल-कूद झंझावात में भी टूटें नहीं इधर-से उधर न हों। इस तो दुर्बल मन, निर्बल मन है। वृक्ष की कच्ची टहनियाँ हमारा मन है इसलिए हम तो इन निमित्तों से स्वयं को अलग ही रखना है। उन अवस्था में ही सत्य को आगे रखना है।

किसी ने कहा है कि सम्यक्‌दर्शन के बिना क्रिया निष्फल है। कोरे त्याग-तप मे कोई लाभ नही है, अत इनके करने का प्रयोजन क्या भी। तो बात ऐसी ही हो जाएगी जैसे कोई व्यक्ति है और नदी किनारे पहुँच गया है। किसी ने पूछा—'भैया यहाँ क्यो आये हो?' बोला—'मै इसलिए आया हूँ कि मुझे तैरना सीखना है'। 'तैरना सीखना है तो तैरना चालू करो, डुबकी लगाओ। मुझे तैरना आता है। मै तुझे सहारा देता हूँ।' 'नही, तैरना तो चाहता हूँ किन्तु तब जब मुझे तैरना आ जाएगा तब। जब मुझे तैरना आ जाएगा, तभी नदी मे पाँव रखूँगा। जब तक नही आयेगा, नही रखूँगा।' भाई ऐसा आदमी तो मैने आज तक नही देखा कि जिसने नदी मे पाँव न रखा हो, और वह तैरना सीख गया हो। तैरना तो आयेगा ही उसे जो नदी मे पाँव रखेगा, डुबकी लगायेगा।' हमारी स्थिति भी ऐसी ही है, इसलिए हमे आत्मशुद्धि के लिए अपने मन को नियन्त्रित रखने की कोशिश करनी चाहिये। एक नही बहुत से ऐसे व्यक्ति है जो कहते रहते है कि जब तक हमारा मन नही मानता तब तक दुनिया के सामने दौडने से क्या फायदा?

महापुरुषो की वाणी का आलंबन ले कर यदि पदार्थ के प्रति रस को हमने कम नही किया तो फिर मनुष्य-जीवन मे आकर क्या किया? परनारी को विकार से देखना, पापो से अपनी आत्मा को भरना है। उस सदाचार पर, चाहे स्त्री हो, चाहे पुरुष हो हमारी भारतीय सस्कृति का अस्तित्व टिका रहा है, पर योग की बात है कि आधुनिक युग मे पाश्चात्य सभ्यता की आँधी भारत मे ऐसी आयी है कि कई जगह धूल जमा हो गयी। पाश्चात्य सस्कृति के प्रभाव ने भारतीय सस्कृति को इतना अभिभूत किया, इतना विकृत किया कि आज शहर मे, बाजार मे घूमने के लिए जब नारियाँ निकलती है, तब कई तो ऐसे वस्त्र पहनती है जो अगो का नगा प्रदर्शन करते है। माना, जिसके मन मे विकार आते है, वह तो विकारी है, किन्तु हमने आखिर ऐसा निमित्त ही क्यो दिया? हमने ऐसे वस्त्र ही क्यो पहिने? हम इतने सज-धज से क्यो निकले? शृगार अपने स्वामी के लिए होना चाहिये। शृगार अपनी सीमा मे होना चाहिये। बाजार मे शृगार क्यो? शृगार यदि इतना ज्यादा है, अगो का प्रदर्शन यदि इतना ज्यादा है, ऐसे वस्त्र इतने ज्यादा पहिने जाते है कि टिकने वाले व्यक्तियो की भी दृष्टि क्षण-भर के लिए टिकती है तो वे स्वय दोषी है, किन्तु ऐसे वस्त्र पहनने वाली बहिने भी दोषी है। उन्हे मर्यादा मे रहना चाहिये। वस्त्र ऐसे होने चाहिये कि जब हम बाहर जाएँ तब हमारा पूरा शरीर व्यवस्थित हो।

ससार विचित्र है। अन्धानुकरण व्यक्ति बहुत अधिक करता है, और जो अन्धानुकरण करता है वह दुनिया के इशारे पर नाचता रहता है। आज भारत मे

पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से कितनी विकृतियां आ गयी हैं हमारे आचरण में, चरित्र में? है कोई सीमा।

हमने देखा है सुना है भारतीय संस्कृति जो अहिंसक संस्कृति है धर्मप्राण संस्कृति है जिसकी अहिंसा में गहरी आस्था है उसके आश्रयस्थल भारत में मांसाहार किस कदर बढ़ रहा है? मांसाहार अधिक किया जाए इस निमित्त भी कितने दिये जा रहे हैं? वास्तव में जब डाक टिकिट आदि पर कोई छाप या कोई मोहर या कोई चित्र हो तो देश की संस्कृति के गौरव की वह हो। किसी ने देश के लिए बलि दी हो उसका चित्र हो। जिसने देश को अनुशासित रखा हो व्यवस्थित चलाया हो उस सम्राट का चित्र हो। संस्कृति की सुरक्षा के विचार मनुष्य में आयें ऐसे चित्र टिकिटों पर छाप जाए। बड़ी सांस्कृतिक विभूतियों की छाप हो, किन्तु आज किसको महत्त्व दिया जा रहा है? अण्डे को। भारतीय जनता जो धर्मप्राण जनता है उसके मन को धक्का लगना स्वाभाविक है कि आखिर यह कैसा प्रचार है? आज छोटी उम्र में ही बच्चों में विषय-विकारों की भावना बढ़ जाती है बच्चों उम्र के दस-बारह वर्ष की उम्र के बच्चे संसार के जीवन को जानते हैं क्या जानते हैं? संस्कृति में विकृति आ गयी है। घरों में ऐसे चित्र मटकों पर ऐसे चित्र बाजारों में ऐसे चित्र। फिल्मों का दूषित प्रचार अखबारों में मिलेगा। बड़े-बड़े पोस्टर्स और बोर्ड भी लगे रहेंगे जहाँ खुले नग्न चित्र रखने को मिलेंगे। जन्म के बाद दस-पांच वर्ष के छोटे बच्चों को भी ये चित्र देखने को मिलते हैं। चित्र देखने में उन्हें जिनका चित्र है उनके चरित्र की जानकारी भी मिल जाती है। हमारी असावधानी से आज भारतीय संस्कृति में कितनी विकृति आ गयी है!!!

गृहस्थाश्रम सदा से गृहस्थाश्रम रहा है। सभी में सभी आश्रम रहा किन्तु आज तो हर घर में मकान में व्यवस्था ऐसी है कि छोटे-से-छोटा बच्चा जानता है कि यह कमरा किस का है? यह बिस्तर किस का है? यहाँ की मिरहान क्या है? समाज की रीति-नीति हो आज अलग है किन्तु भारत की अंतरात्मा एवं धी भारत एवं प्राण था आज उसे इस प्रकार बदल दिया है कि छोटे छोटे बच्चों के दिमाग में न मालूम कितना कचरा घर कर गया है। यह संस्कार स्कूल से ही हैं। स्कूल में, कॉलेज में विवाह से पहले सहशिक्षा तो अविवाहित विवाह के बाद का जीवन जान लेते हैं। दोष एक का नहीं अनेकों का है। स्वयं उनका तो है ही किन्तु अभिभावकों का भी दोष है। शिक्षा का भी दोष है। इस प्रकार की जो फिल्म हैं उनका भी दोष है। आज तो घर घर में टी वी है, जो शायद अब हमारे में भी आने ही वाला है। जहाँ दादा भी बैठता है दादी भी बैठती है बाप भी बेटा भी भाई भी बहू भी सास भी—कोई लज्जा नहीं कोई

सकोच नही। उसमे सव प्रकार की प्रवृत्तियाँ एक साथ सब बैठ कर देखते है, मुस्कराते रहते है । वाप भी हँसता है, वेटा भी हँसता है । क्या है यह ? अण्डो का प्रचार करने के लिए डाक-टिकिटो पर अण्डो के चित्र छापना वास्तव मे विरोध करने लायक प्रवृत्ति है । विरोध होना चाहिये । अण्डे मे यदि ताकत है, यह कहने के लिए यदि उसका प्रचार किया जा रहा है तो अण्डे मे अधिक ताकत तो सोयावीन मे है, उसका चित्र दे। अन्य कई ऐसे पदार्थ हे, उनकी तस्वीरे दे ।

वचपन से ही वच्चो मे सस्कार क्षीण होते जा रहे है। आज शाकाहारी और मासाहारी दोनो प्रकार के वच्चे एक ही स्कूल मे जहाँ अध्ययन करते है, भले ही उनकी मेजे अलग लगती है, भले ही उनकी भोजन-व्यवस्था अलग रहती है, फिर भी उनकी आँखे एक दूसरे के आहार को देखती है। क्या खाया, कैसा लगा, उसकी स्वाद-चर्चा होती हे। सस्कार तो वही से शिथिल होने लगते है। कभी कहो तो भी तो माँ-वाप कहते है–'नही महाराज, वच्चे खाते थोडे ही है, उनकी तो मेजे ही अलग होती है। कही देखने से भी सस्कार वदलते है?' निश्चित रूप से वदलते है। पर आज अपनी सस्कृति की सुरक्षा की भावना कितनो रह गयी है? देश के गौरव को सुरक्षित रखने का विचार आज कितनो मे शेष रह गया है।

मुनिश्री ने अहिसा-हिसा का, पॉच इन्द्रियो के विपयो का उत्कृष्ट विवेचन किया । उपदेश देते-देते ही चोर पकड वैठे । विद्याधर समझ गया कि आज सदाचार पर जो जितना गुरुजी ने कहा है, सव मेरे ही मन की वात वह है। वे मन पर्यय ज्ञानी थे, इसलिए उन्होने तो लक्ष्य-पूर्वक ही उपदेश दिया था, इसी तरह कितने ही वन्धु और कितनी ही वहिने कहती है कि महाराज आज तो आपने व्याख्यान हम पर ही दिया, अरे, हमने तो किसी पर नही दिया, स्वय पर दिया है। अव यह वात अलग है कि जिसके जीवन मे जो कमी होती है वह उसे महसूस करता है। महसूस करना ही चाहिये। नही तो सुनने से लाभ ही क्या?

इतने मे उस सभा मे एक दिव्य देव आता है । वह पहले स्त्री को फिर मुनि को नमन करता है । सारी सभा आश्चर्य मे पड गयी कि यह तो अविवेक हो रहा हे। वन्दन तो पहले गुरु का होना चाहिये, फिर सह-धर्मियो का। सव असमजस मे पडे थे । सव की शकाओ को समझ कर गुरु महाराज ने कहा कि यह देव जो कुछ कर रहा है विवेकपूर्वक कर रहा है । इसमे अविवेक का कही कोई अश नही है। यदि समझ नही पा रहे हो तो स्थिति स्पष्ट हे। यह देव और कोई नही, युगवाहु का जीव, मदनरेखा का पति है । जव वडे भाई ने छोटे भाई को तलवार से मार डाला और मदनरेखा ने इस क्रिया को देख लिया, जान लिया, उसके कारण को भी समझ लिया तव उसने सोचा– "रोना तो वाद की वात है। जेठजी के प्रति विचार करना भी वाद की वात है।

सबसे पहले तो मरते हुए मेहमान के मन के परिणामों को शान्त करना है। यह [illegible] आने वाला अतिथि है जाने वाला अतिथि है अतः उसने उस घटना पर मुस्काया। घटना पर मुस्का कर कहा—स्वामिन आपके बड़े भाई तो निमित्त बने हैं माध्यम बने हैं। कर्म-रूपी आपके पूर्वकृत का ऐसा योग है। परिणामों में शान्ति रखना। यह शरीर आज नहीं तो कल, कल नहीं परसों एक दिन जाने वाला है। इसका मोह मत करना। अपने बड़े भाई पर भी हृदय में भाव मत लाना। मैं सच्च आपकी रानी हूँ जीवन भर अपने कर्तव्य को सुरक्षित रखूँगी। मेरी चिन्ता मत करना। बच्चों की भी चिन्ता मत करना। सब अपने अपने कर्म ले कर आये हैं और अपने अपने कर्मों के फलानुसार सब शुभ-अशुभ का उपभोग करेंगे। तुम ठीक हो जाओगे चिन्ता क्या करना? यदि कुछ हो भी गया, तो जगत में कितने ही जन्मते-मरते हैं। और तुम तो पधारे थे वे ही कर जा रहे हो। कितने लोग बच्चे आप बड़े हो गये हैं जिनके मां-बाप जन्मते ही मर गये। क्या चिन्ता करते हो?

वहीं इस प्रकार के उद्गार व्यक्त कर हिम्मत बंधाती और वहीं मरते हुए

तो भी नाते रिश्ते वाले कहते 'अब साहब क्या करें, मन बहुत ही दुःखी हो रहा है आपकी गृहस्थी तो अभी कच्ची है। बच्चे छोटे छोटे हैं इस तो यही फिकर आता है कि आप मर जायेंगे तो इनका क्या होगा?' यह पहले ही मर रहा है, उसके घाव में और मार दिया। ऐसे अविवेक का परिचय [illegible] मित्र बना शत्रु है सज्जन [illegible] दुर्जन है। उस समय ऐसे लोगों को तो कभी पास ही [illegible] रखना चाहिए। जितनी जल्दी बन सके [illegible] हमदर्दी के [illegible] कर उस आत्मा को [illegible] मार्ग में स्थिर करना हो [illegible] तो उस वक्त दूर ही रखना चाहिए। मृत्यु के समय तो जो हिम्मत दिलाता रहे [illegible] पदार्थों में सम्बन्धों में जो मोह विच्छिन्न करता रहे ऐसी बात कर जो [illegible] दे दी जाये उन्हें पास बैठाना/बिठाना चाहिए क्योंकि जो मर तो रहा ही है छूट भी रहा ही है सब छूट ही रहा है जिसका फिर सुनना क्या बनाना उसे?

मदनरेखा ने पति को [illegible] किया, कुछ [illegible] दिया। [illegible] समय [illegible] में [illegible] प्राणों के [illegible] में [illegible] किया। [illegible] है कि [illegible] विषय का [illegible] है क्योंकि [illegible] है [illegible] है। [illegible] किया [illegible] किया। [illegible] में [illegible] विषय [illegible] है [illegible] पर [illegible] और [illegible]। [illegible] हो है। [illegible] का [illegible] में [illegible] है [illegible] किया [illegible] है। [illegible] है। [illegible]

है। यदि पत्नी इस प्रकार का वातावरण नहीं बनाती तो पता नही ऐसा होता या नही होता ? पर, उसके जीवन मे हुआ इसलिए उसने उसे उपकारी माना।

पत्नी गुरु का काम भी करती है, मत्री का भी, मित्र का भी काम करती है। गृहिणी का काम भी करती हे। एक व्यक्ति मे अनेक शक्तियाँ होती हे। मै अब तुम्हारा क्या उपकार करूँ ? कौन बोल रहा है ? वह देव कह रहा है। तुम तो मृत्यु के क्षणो मे मेरी आत्मा को शान्ति पहुँचा कर मुझे मन्दकषाय की स्थिति मे ला कर देव गति मे जाने मे निमित्त बन गयी। मै वहाँ पर हूँ, पर मै तुम्हारा उपकार क्या करूँ?

इस जीव को ससार मे सारे निमित्त मिलते है, सारे विचार मिलते है। सारे भाव मिलते है। चार सज्ञाओ के आकर्षण को बढ़ाने वाले निमित्त तो बहुत हे पर सद्-गुरुओ की वाणी, महापुरुषो की वाणी, अरिहन्तो का वाणी इस जीव को सत्य तत्त्व समझाने का प्रयत्न करती है। यह सत्य तत्त्व किसकी समझ मे आयेगा ? कब समझ मे आयेगा ? यह सब पात्रता पर निर्भर हे, किन्तु हमारी यह पात्रता विकसित कब होगी ? हमे उसे विकसित करने के लिए अनुकूल निमित्तो मे स्वय को रोज ही लगाना चाहिये। घिसते-घिसाते कभी-न-कभी हमारे जीवन मे भी सत्य आ ही जाएगा। यदि वह आ गया तो हमारी जिन्दगी का लक्ष्य सही हो जाएगा, जीवन की क्षण-भगुर कलिका, जो कल प्रात फिर खिली, न खिली, मलयाचल की शुचि, शीतल गन्ध, कल प्रात. फिर चली, न चली। कलि काल कराल कुठार लिये फिरता, तन डाली नम्र है, चोट झिली-न-झिली' क्या पता, कब समय आ जाए ? किसका आ जाए ? 'दुनिया का समय आ गया है' ऐसा अखबारो मे पढ़ते हे। अनहोनी घटना सुनते हे। आश्चर्यकारी घटनाएँ हमारी दृष्टि मे, ज्ञानियो की दृष्टि मे आती है। कुतुबमीनार का हाल कल ही अखबारो मे पढा। ओ-हो, कितने बच्चे!!! माँ-बाप ने किस खुशी के साथ विदा किया होगा, जब वे घूमने के लिए निकले तब। अभी तो पूरे पुष्प नही बने, किन्तु कली के क्षणो मे ही मुरझा गये। इसे एक अद्‌भुत नही, दु खद घटना कहना चाहिये, एक बड़ी ही विचित्र शर्मनाक घटना घटी कि कैसे पैतालीस व्यक्तियो की मौत एक साथ हो गयी!!!

दुनिया जा रही है। हम भी जाएँगे, रहना नही है। जैसे दुनिया की मृत्यु के गीत हम गा रहे है, हमारी मृत्यु के गीत भी यह दुनिया गायेगी। पर जाने से पहले कुछ सही उपयोग कर ले, सदुपयोग कर ले, अपनी बुद्धि का, अपने धन का, अपने मन का, अपने तन का। क्षण-भगुर जीवन की इस कली का जो कल प्रात समय फिर खिली न खिली, मलयाचल की शुचि शीतल गन्ध कल प्रात समय फिर चली न चली। कलि काल कुठार लिये फिरता, तन डाली नम्र है, चोट झिली न झिली। रट ले हरि नाम अरी रसना; रट ले प्रभु नाम अरी रसना, कल प्रात समय फिर चली न चली। □□

—इन्दौर ६ दिसम्बर १९८१

सत्संग का स्थान बदल गया, किन्तु सत्संग-प्रेमी नहीं बदले, अर्थात् हम इससे प्रेरणा लें कि जैसे स्थान बदलने से हम नहीं बदलते वैसे ही शरीर के बदलने से आत्मा नहीं बदलती। कपड़ा बाजार में भी सुनने वाले हम थे, जैन उपाश्रय में भी हम थे और सुभाष चौक में भी सुनने वाले हम हैं। सुनने वालों की संख्या में भी परिवर्तन होता है, आकृतियां भी बदलती हैं, किन्तु जहां तक मेरा प्रश्न है, मैं ज्यों-का-त्यों हूँ। इससे बहुत बड़ा सबक मिलता है, बहुत बड़ी शिक्षा मिलती है। इसी सत्य को समझाने का प्रयत्न सन्तों ने सदैव किया है कि जाति के बदलने से, देश के बदलने से, शहर के बदलने से, गति के बदलने से, कर्मों के परिणाम बदलते हैं, किन्तु आत्मा नहीं बदलती। सच्चिदानन्दघन आत्मा सब देहों में, सब योनियों में, सब जातियों में यहां रहती है, किन्तु आत्मा आत्मा को समझे ऐसा अवसर लाख चौरासी योनियों, चार गतियों के भ्रमण में भी इस जीव को अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। यदि भूल को भूल के रूप में वह स्वीकार करता है, भूल को भूल के रूप में यदि वह समझता है तो ऐसा मनुष्य जिन्दगी में। यही तो कारण है कि सभी धर्मों के ऋषि-महर्षियों ने, सभी सन्तों ने इस सत्य को सुनाया कि मनुष्य-जीवन में ही हम मनुष्यत्व प्राप्त कर सकते हैं। इस जिन्दगी में ही आत्मा आत्म-स्वरूप को समझ सकता है। इस शरीर में आने के बाद ही ऐसे साधन हैं।

क्या ऐसे साधन भी सर्वत्र सब के लिए हैं? मनुष्य-देह प्राप्त करने का पुण्य तो सभी मनुष्यों को प्राप्त है, किन्तु वह पुण्य मात्र-पुण्य नहीं है, क्योंकि पुण्य कार्य के अनुकूल वातावरण और उस पुण्य प्रवृत्ति में लगाने का संकल्प नहीं है और शुद्ध आत्म तत्त्व को समझने का लक्ष्य नहीं है। मनुष्य शरीर को प्राप्त करने के बाद भी हजारों लाखों मनुष्य ऐसे हैं जिन्हें अपनी भूलें निकालने का कभी विकल्प ही नहीं आता। जो लोग अपनी भूल को भूल के रूप में स्वीकार ही नहीं करते और जिनको भूल समझ में आये ऐसे साधन ही नहीं मिलते, ऐसे निमित्त ही नहीं मिलते। जन्म से ही जिन्हें वातावरण ऐसा ही मिलता है, हिंसात्मक आचरण, सामान्य में सामान्य विचार वाला

वरण जहाँ समझने-सोचने की शक्ति नहीं होती, हम उन लोगों मे अपनी गणना न करे, उन लोगो मे अपने-आप को न मिलायें।

हमे मनुष्य-शरीर ही नही मिला बल्कि परिमार्जित बुद्धि भी मिली है। सत्संग-रुचि भी मिली है। सत्य को समझने का वातावरण भी मिला है। इसी देह-देवल मे विराजमान आत्मा को आत्मरूप मे स्वीकार करने की एक योग्य स्थिति मिली है। इस अवस्था को प्राप्त करके जो भी व्यक्ति पुरुषार्थ के लिए लग जाता है, उसका जीवन, उसका जन्म सार्थक है। जिसका जन्म, जीवन सार्थक है, उसकी मृत्यु भी निश्चित रूप से सार्थक है।

मदनरेखा, जिस कथा को हम तीन-चार दिन मे श्रवण कर रहे है, मृत्यु के क्षणो मे जिसने पति का उपकार किया, प्रकृति मे शान्ति कैसे हो, इसके लिए उपदेश दिया ओर यह कहा कि भले मारने मे निमित्त भाई बना है, किन्तु कही-न-कही तुम्हारे पूर्व-कर्म के अशुभ कर्म का उदय है और अशुभ कर्म के उदय ने तथा-प्रकार की प्रेरणा मिली है, इसलिए तुम निमित्त के प्रति राग-द्वेष की वृद्धि मत करना।

इस प्रकार शान्त परिणामो से जब उसने प्राण छोडे तो कल हमने सुना कि जहाँ प्रवचन-सभा मे गुरु महाराज उपदेश दे रहे है और हजारो नर-नारी श्रवण करने के लिए उपस्थित है, गुरु महाराज ने मनोगत भावो को जानने की शक्ति से, अपनी आत्मा की शुद्धि से, निर्मलता से जाना इस रूप को कि मदनरेखा, जो विद्याधर के साथ आयी है, उस विद्याधर के मन मे मदनरेखा के प्रति कलुषित भाव है, विकार है। उन्होने 'सदाचार ही जीवन है' इस पर पूरा प्रवचन दिया कि जिस व्यक्ति के जीवन मे सदाचार नही, जिस व्यक्ति के जीवन मे चारित्र्य का महत्व नही उसका क्या महत्त्व है? व्याख्यान श्रवण कर उसने मन-ही मन समझ लिया कि गुरु महाराज को मेरे मनोगत भावो की जानकारी मिल गयी है।

जिनकी आत्मशुद्धि बहुत ज्यादा हो चुकी, ऐसे विरले साधको को एक शक्ति प्राप्त होती है जिसे मनोगत भाव जानने का सामर्थ्य, अथवा पारिभाषिक शब्दावली मे मन पर्यव ज्ञान कहते है। व्याख्यान सुनते-सुनते उसका मन पश्चात्ताप से भरने लगा। वह सोचने लगा—'मैने परनारी के प्रति किस प्रकार विकार भाव किये, क्यो किये? अनधिकार चेष्टा की और आत्मा को कलुषित किया। व्याख्यान पूरा होते-होते उसकी मन स्थिति बदल गयी। इस बीच जो देव आया है उस प्रवचन-सभा मे उसने नारी को पहले नमस्कार किया। नारी को नमस्कार करके फिर गुरु महाराज को नमस्कार किया। इस अविवेक को देख कर श्रोताओ को आश्चर्य हुआ कि नमस्कार तो पहले गुरु को होना चाहिये था।। नमस्कार गुरु को होना चाहिये, नमस्कार एक नारी को कैसे? किन्तु कुछ ही क्षणो मे गुरु महाराज ने भ्रान्ति को दूर कर दिया

और कहा—नहीं जो कुछ हो रहा है वह उचित है, उसमें अविवेक नहीं है, विवेक है। इस देव के लिए सर्वाधिक उपकारी यदि कोई है तो यह नारी है। वहां उन्होंने परिचय दिया कि इस नारी ने पति की मृत्यु के प्रसंग पर परिणामों में शांति लाने का प्रयत्न किया। मोह नाश हो जाए ऐसे मन्त्र का प्रयोग किया और जाती हुई आत्मा को आराधना करायी, जिसके परिणामस्वरूप वह दिव्य देव गति में गयी। *कायनम* जैसे ही सम्पन्न होने लगा वैसे ही देव ने कहा मदनरेखा बताओ तुम्हारा क्या उपकार करूँ? तुमने मेरा उपकार बहुत किया। यदि संक्लेश के परिणामों में अत्यधिक क्रोध के परिणामों में और प्रतिकार की भावना से मेरे प्राण निकलते तो मेरा कितना अपकार हो जाता, कितना बिगाड़ हो जाता?

कालान्तर में प्रतिशोध लेने की भावना का नाम ही वैर है। यह क्रोध से आगे की व्यवस्था है। क्रोध से भी बदतर स्थिति वैर की है, क्योंकि क्रोध तो तात्कालिक होता है जो तत्काल शान्त हो जाता है, किन्तु वैर तात्कालिक नहीं होता। वह योजनाबद्ध होता है। योजनाबद्ध प्रतिकार की भावना से व्यक्ति वैर की भूमिका में चला जाता है। देव ने कहा—यदि तुमने इस प्रकार की शिक्षा मुझे नहीं दी होती यदि मेरे परिणामों *में शांति बने ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं किया होता मृत्यु के क्षणों में यदि तुमने महा* रमाओं और सन्तों का नाम मुझे नहीं सुनाया होता तो पता नहीं मेरी आत्मा कषाय भाव में, वैर के भाव में कहां जन्मती और किस योनि में किस प्रकार कष्ट सहन करता। तुमने मेरा जो उपकार किया है, उस उपकार का कोई चुकारा नहीं है। 'उपकार' शब्द एक है, उसकी सीमाएँ अनेक हैं। कोई दो रोटी खिला कर उपकार करता है, कोई दो वस्त्र दे कर, कोई दुर्दिन में दुःख के दिनों में किसी प्रकार का सहयोग दे कर उपकार करता है। कभी कोई संकट में है तो कोई उसका भी उपकार करता है।

परहित निरत जिनके विचार होते हैं दूसरों का हित करो' ऐसे भाव जिनके होते हैं ऐसे व्यक्ति उपकार के लिए उपयुक्त अवसर ढूंढते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति 'काम' खोजते रहते हैं कि कब किसी की क्या सेवा की जाए कब किसके काम आया जाए? कहां *सहयोगी बनूं कैसे सहयोगी बनूं?* वह यह प्रतिक्षण सोचता ही रहता है। उपकार अनेक प्रकार का होता है। यहां देव कह रहा है कि मदनरेखे, तुमने जो उपकार किया है वह उपकार अपने-आप में अनुपम है क्योंकि वस्त्र का दान, रोटी का दान, दवा का दान, शिक्षा और चिकित्सा के सहयोग में दान, आदि की भी उपयोगिता है महिमा है आवश्यकता है। यह भी सब उपकार की परिधि में आता है किन्तु यह उपकार तो कुछ *समय के लिए होता है* कुछ दिनों के लिए होता है, कुछ वर्षों के लिए होता है, एक जिन्दगी का होता है, किन्तु तुमने तो ऐसा उपकार मेरा किया कि मेरी मति ही बदल गया। दुर्बुद्धि यदि सद्बुद्धि में बदल जाए तो इससे बड़ा आत्म शान्ति और क्या होगा? सद्बुद्धि का दान ही सब में बड़ा दान है क्योंकि सद्बुद्धि मिल गयी तो जीवन बदल जाएगा जीवन का रूप बदल जाएगा जीवन जीने का ढंग बदल जाएगा।

सन्त-परम्परा आज आपको, हमें जो कुछ शिक्षा दे रही है, नहीं पूछा जाए, तो सत्सग-सभा मे कोई दान यदि है, तो वह कौन-सा है? सद्बुद्धि। मुझे याद आता है जब किसी समय नारद मुनि सभा में आये तो राजा ने उनको नमस्कार किया। राजा ने नमस्कार किया और यह कहते हुए नमस्कार किया कि सन्त तुम्हारे आगमन से मेरी तीनो कालो की योग्यता व्यक्त हो गयी; तीन काल की योग्यता सिद्ध हो गयी, कैसे सिद्ध हुई? वर्तमान में सत्पुरुषो की वाणी श्रवण करने के समय मे पाप का वन्ध नही होता, अतीत के पापो का नाश होता है। सद्विचार प्राप्त होते है, सद्बुद्धि आती है अत. भविष्य सफल होता है। ऐसा निमित्त जीव को अतीत मे किये पुण्य का प्रतिफल है। वर्तमान मे पाप प्रवृत्ति से जीव बच गया, यह प्रत्यक्ष लाभ है। सद्बुद्धि मिलने से उसका आचरण शुद्ध हो जाएगा, यह भविष्य का मगल मार्ग है। 'सन्त' का अर्थ आप यह न ले कि मैं स्वय को सन्त कह रही हूँ। सन्त-परम्परा की कडी मे मै वस्त्रो से जरूर हूँ, जीवन मे भी सन्त-स्वभाव को प्राप्त करने का लक्ष्य है, विचार है उद्देश्य है, किन्तु आज की स्थिति मे मैं स्वयं को सन्त नही कह सकती, क्योकि सन्त वह होता है जो सत्य को जाने। सन्त वह है जो सत्य मे समग्र समा जाए। सत्य मे जो सपूर्ण डूब गया, वह सन्त है। उस सन्त की वाणी ही सन्त-वाणी है, क्योकि जब तक शब्द हमारे जीवन को सार्थक नही करते, तब तक वे अपने नही हो सकते, हमारे नही हो सकते। न मेरे हो सकते है वे, न आपके। उन्हे जब हम पूरी तरह से अपने जीवन मे सार्थक कर लेगे, तब कह सकेगे कि यह वाणी हमारी है। हमारी नहीं, उन परम पुरुषो की है, शुद्ध आत्म-तत्त्व को अनुभव करने वाले उन ज्ञानी गुरुओ की है, जिन्होने सत्य को अपने जीवन मे सार्थक किया। ऐसे सन्तो की वाणी श्रवण करने का, उन सन्तो की वाणी सुनाने का सौभाग्य मुझे मिला है। इस श्रवण मे भी, यदि लघुता के, विनय-शीलता के, गुण-ग्रहण के, आत्मकल्याण के, कुछ पाने के भाव यदि है तो निश्चित रूप से सत्सग सफल है।

सत्सग मे आने के बाद भी, यदि सत्सग मे बैठते वक्ता या श्रोता के बीच कहीं अहम् पुष्ट होता है तो समझ लेना चाहिये कि वह लाभ नही, अलाभ है। सद्बुद्धि आने के बाद 'अहम्' टूटता है। जब तक असद् बुद्धि है, तब तक अहम् बढता है। सत्य समझ मे आ जाए और अहम् न टूटे, ऐसा हो ही नहीं सकता है। यदि अहम् पुष्ट हो रहा है तो सत्य समझ मे नही आया, यह निश्चित बात है। आत्मज्ञान के बिना, सत्य-ज्ञान के बिना, तत्त्व-ज्ञान के बिना, व्यक्ति का अहम् कभी टूटता नही। यहाँ तक भी कहे तो कोई गलती नही होगी कि सत्य समझ मे आये बिना व्यक्ति सत्य के आचरण से भी 'अहम्' को ही पुष्ट करता है। व्यक्ति अपनी जिन्दगी मे अच्छे कार्य भी करता है, शुभ कार्य भी करता है। अपनी सत्ता और

सम्पत्ति का विशेष उपयोग भी करता है तो कहीं-न-कहीं जो कर वह अधिकांश अपने नाम के लिए ही करता है। सद्बुद्धि आने के बाद, सत्ता और सम्पत्ति दोनों साधक बनते हैं।

देव मदनरेखा से कह रहा है कि तुमने मेरा जो उपकार किया उसमें दो दिन का लाभ नहीं मिला मुझे। कोई दस दिन मुझे आराम नहीं मिला। मेरी बुद्धि के परिवर्तन से जो मेरी गति बदल गयी और गति बदलने से मेरे जो अन्तिम समय के सुसंस्कार रह गये उन सुसंस्कारों के आधार पर मेरी आत्मा की शुद्धि का अवसर मुझे मिला है।

व्यक्ति के संस्कार साथ चलते हैं। संस्कारों की सम्पत्ति आगामी जीवन का निर्माण करती है। भविष्य का यदि कोई निर्णायक है, यदि कोई विधाता है तो वे संस्कार ही हैं। जिसके जैसे संस्कार होते हैं उसे गति भी वैसी ही मिलती है। गति के भी अपने कुछ संस्कार होते हैं। मैं जब कभी बिल्ली को देखती हूं और उसकी मायावी दृष्टि को देखती हूँ चूहे को पकड़ने की एक कामना तीव्र अभिलाषा हर समय उसके प्राणों में बनी रहती है। हर समय प्राण हिंसा के संकल्प में बहते जाते हैं। इधर से उधर चक्कर काटती रहती है। जब भी मिल जाए जो भी मिल जाए किन्तु मिल जाए, मिल जाएं के जो भाव हैं जहां कहीं से भी वह जीव आया है हिंसात्मक वातावरण से आया है कलुषित आत्मा से आया है तीव्र कषायों के परिणाम से उसे ऐसी जिन्दगी मिली है यह उसका विश्लेषण है। बिल्ली की जिन्दगी उस गति के भी अपने परिणाम हैं वहाँ का भी थोड़ा असर है। तीव्र हिंसा के भाव से जीने से, मलिन परिणामों से हर समय जो सम्बन्ध होता है वह दुर्बुद्धि। दुर्बुद्धि निश्चित रूप से फिर दुर्गति देती है। यह दुर्बुद्धि ही दुर्गति देने वाली है। सुबुद्धि सुगति देने वाली है इसलिए सुबुद्धि (सन्मति) प्राप्त करने के लिए हम सत्संग में आते हैं। सत्संग से सद्बुद्धि प्राप्त होती है। यदि यह मिल गयी तो सदाचरण होगा और यदि सदाचरण होगा तो एक नहीं अनेक जन्मों में सुसंस्कार उसे मिलेंगे। देव ने कहा मदनरेखे तुमने मेरा जो उपकार किया है उस उपकार का कोई उत्तर मैं कैसे दूं? मैं चाहता हूं कि मैं भी तुम्हारे कुछ काम आऊं। मैं भी तुम्हारे प्रति कृतज्ञता व्यक्त करूं।

सज्जन व्यक्ति सदा सोचते हैं कि वे किसी के काम आ जाए। किसी के भी काम आ जाए किसी की जरूरत में सहयोगी बन जाएँ। उनका धन, उनकी शक्ति किसी के काम आ जाए। उनके साधन, उनकी सुविधा किसी की भी परेशानी को कम कर जाए। ये विचार सन्मति से आते हैं और यह सन्मति आती है सत्संग से।

मदनरेखा ने कहा—मेरी भी अपनी आवश्यकता है । मैं यहाँ तक तो पहुँच गयी, कर्मो का नाटक देखती हुई । दृश्य तो बदलते ही रहे हैं । मेरा बचपन, मेरी जवानी, जवानी की यह ढलान । परिस्थितिया बदलती है । जेठजी को मेरे प्रति विकार-भाव आये जिनके फलस्वरूप उन्होंने अपने भाई की हत्या की (मेरे पति की हत्या की)। वहाँ से फिर मैं अपने प्राणो की सुरक्षा के लिए, सतीत्व की रक्षा के लिए जगलो मे एकाकी घूमती रही, पुत्र को जन्म दिया, पुत्र की सुरक्षा के उत्तरदायित्व को कोई ले ले और मुझ से भी अधिक उस पुत्र को सुख-सुविधा अनुकूल साधन मिले, ऐसी मगल कामना के साथ, मोह-रहित कर्तव्य के साथ मैंने उसे एक शिलापट्ट पर सुला दिया । पद्मरथ राजा उसे अपनी गोद मे ले गया । उसमें भी मैंने सन्तोष की साँस ली, किन्तु फिर भाग्य ने पलटा खाया । हाथी ने मुझे उछाला । मै विद्याधर के विमान मे आ कर गिरी । उस विद्याधर के मन मे विकार-भावना ने जन्म लिया—इस तरह जीवन-नाटक के नाना दृश्य मैंने अब तक देखे है, किन्तु पता नही इस जीवन-नाटक के अब और कितने अक शेष है ?

इतने मे विद्याधर, जो उसी सभा मे बैठा हुआ था, जिसके विमान मे मदनरेखा आयी थी, कहने लगा—'क्षमा करना, क्षमा करना । बहन क्षमा करना । मैंने तुम्हे विकार-भावो से देखा । मैंने तुम्हे पत्नी बनाने की कल्पना से देखा । अनधिकार चेष्टा मेरे मन मे आयी । ओह, मैंने आँखो को विकार-भावो से भर लिया । अपने हृदय को मैंने अपवित्र बना लिया । मैंने एक बार नही, आँख चुरा कर भी तुम्हारी ओर मैंने कितनी ही बार देखा । मेरे कलुषित विचार मेरी आँखो से टपक रहे है ।'

आँखे हृदय की आरसी है, आईना है । देखता तो हर व्यक्ति है · देखना तो आँखो का काम ही है । आँखे बन्द करके तो ससार मे कोई चलता नही है । जो भी चलता है, जब भी चलता है, आँखे तो खोल कर ही चलता है । आँखे खोल कर चलता है तो आने वाले उसे दिखायी देते ही है । वह देखता ही है, किन्तु देखने-देखने के ढग मे अन्तर होता है । एक सहज दृष्टि से देखता है, एक घूर कर देखता है (विशेष दृष्टि से), विकार-भावो से देखता है। भले ही उसने सामने वाले व्यक्ति का, सामने वाली बहन का कुछ बिगाडा नही हो, किन्तु अपना तो बिगाड ही लिया । पाप तो नही कर सका, किन्तु पाप का बोझ तो उसने उठा ही लिया । क्रिया नही कर सका, किन्तु परिणामो का बन्ध तो उसे हो ही गया । 'क्षमा करना, क्षमा करना' मैंने तुम्हारे प्रति अनुचित भाव किये, गलत भाव किये, विकृत भाव किये । ओहो, गुरु महाराज के उपदेश से मन-ही-मन मेरा मन पश्चात्ताप करने लगा । मैंने कैसी गलती की ? कितना अनर्थ किया ? ओहो, अनन्तकाल मे इस जीव को इन चार संज्ञाओ के विस्तार मे ही तो जीवन

चेतना कराने के मौके मिलते रहे, अवसर मिलते रहे। हर गति में से भी प्रवृत्तियाँ इकट्ठी होती रहीं। आज मनुष्य बनकर भी यदि मैं विकार भावों को आत्मकल्याण में, आत्मशुद्धि में बाधक भाव न समझूँ, विषय विकार आत्मा को पतन में ले जाने वाले भाव हैं ऐसा न समझूँ तो फिर इस भव को निकालने का अवसर कब मिलेगा? कहाँ मिलेगा? क्योंकि ऋषि-महर्षियों ने और किसी जिन्दगी का नाम नहीं लिया। किसी अन्य जिन्दगी में जन्म लेने वाले जीवों के लिए ग्रंथ रचना नहीं की। पशुओं के लिए कहीं पुस्तकालय बने हुए नहीं देखे। कीट-पतंगों के लिए भी पुस्तकालय नहीं बने। देवों के लिए भी नहीं बने और नरक के जीवों के लिए भी नहीं बने। मात्र मनुष्य के लिए ही पुस्तकालय बने, मात्र मनुष्य के लिए ही ग्रंथ लिखे गये, और मात्र मनुष्य के लिए ही ऋषि-महर्षियों ने उपदेश दिये।

मनुष्य की कितनी महिमा है, काश मनुष्य अपनी उस शक्ति को पहचान सकता!! उस शक्ति का उपयोग उठा सकता! उस शक्ति का लाभ ले सकता! अपनी दृष्टि को अपनी भूल निकालने में लगा सकता!! □□

—इन्दौर, ७ सितम्बर १९८१

जिन्दगी : एक मुसाफिरखाना ६

'कहा मेरा मान रे' (एक पद-पंक्ति)। किसका कहना मानें ? क्योंकि आप मेरा कहना मानो, मैं आपका कहना मानूं, तो इसमें कुछ बनने वाला नही है। एक चोर यदि दूसरे चोर को पकड़ता है, तो यह कोई बहुत बड़ी बात नही है। चोर, चोर को क्या पकडेगा ? जो स्वय बहिर्मुखी है, जो स्वय दृश्यमान जगत् के पदार्थों मे आसक्त है, जो स्वय भोग के प्रति आत्मबुद्धि रखता है, जो शरीर को ही आत्मा मान कर चलता है, ऐसी विषम स्थिति मे वह किसी का मार्गदर्शक नही हो सकता।

मार्गदर्शक, या प्रेरक वही हो सकता है, जिसने अपनी दृष्टि को बदल लिया है। जिसने सत्य को पा लिया है, जिसने सत्य को समझ लिया है और जो सत्य की राह पर चल पड़ा है, वही सम्बोधित कर सकता है, वही मार्गदर्शन कर सकता है, वही पथ-प्रदर्शक बन सकता है। ये शब्द उन ज्ञानियो के है जिन्होंने ज्ञान को आत्मसात् किया; जिन्होने सत्य का साक्षात्कार किया, जिन्होंने जीवन जीने की दिशा को समझा। जिस तरह से जीवन को समझा है, वस्तुत उस तरह से तो हम जी ही रहे हैं, किन्तु हमने जीवन को जिस तरह से समझा है, ज्ञानियो ने जीवन को किसी और विशेष दृष्टि से उसे समझा है। जीवन को समझने का हमारा स्तर है शरीर। शरीर-स्तर पर हम जीवन जीते है, क्योकि उसी स्तर पर हम जीवन को समझते भी हैं। जब शरीर-स्तर पर हम जीवन को जानते है, समझते है, तो शरीर-स्तर पर ही हमारी सपूर्ण यात्रा होती है। और इस तरह ले-दे कर हम जीवन-भर शरीर के इर्द-गिर्द ही घूमते रहते है, शारीरिक सम्बन्धो मे ही हम उलझे रहते है, शारीरिक सुखो के बटोरने मे ही हमारी जिन्दगी का समस्त पुरुषार्थ लगा रहता है, क्योकि हमने ज़िन्दगी को जितना भी जाना है जितना भी माना है, वह सब शरीर के स्तर पर माना है, शरीर के आधार पर माना है, कहे, शरीर को ही जीवन माना है। इसमे शरीर की सुख-सुविधा का लक्ष्य, दृष्टिकोण हमारा प्रतिपल प्रतिसमय बना रहता है और उसी आधार पर हमारी जिन्दगी टिकी होती है, जबकि ज्ञानी कहते हैं—जो भी मिला, जितना भी मिला, जैसा भी मिला है, मिला है; पर सदा के लिए वह नही है। अभी है, पर रहेगा वह नही।

आम लोग जब कभी भी ट्रेन से यात्रा करते हैं, सीटें रिजर्व कराते हैं, स्टेशन पर पहुँच जाते हैं, गाडी में बैठ भी जाते हैं। बैठते ही उस सीट से उस स्थान से ममत्व हो जाता है एक आसक्ति होती है। मरापन की भावना होती है और जहाँ कोई भी दूसरा उस सीट पर आ कर बैठता है आप कहते हैं—यह सीट तो मेरा है। यह सीट तो मैंने रिजर्व करायी है। आप किसी और सीट पर जाइये। उस सीट के प्रति उसका कितना गहरा लगाव रहता है कितना ममत्व रहता है कितना अपनत्व रहता है? कभी-कभी तो स्थिति यह भी होती है कि वह फैल कर भी बैठना पसन्द करता है किन्तु दूसरे को जगह देना पसन्द नहीं करता। पर जब समय आ जाए, जब स्वयं का स्टेशन नजदीक आ जाए और उतरने की वेला आ जाए तब उसी सीट को छोड देता है। सामान लेकर उतर जाता है। क्या उसके बाद उसे उस सीट की याद आता है? फिर उससे ममत्व होता है? क्या उसकी याद हम फिर आती है? क्या फिर हम विचार करते हैं कि मेरी सीट पर कौन आ कर बैठेगा? मेरी सीट का उपयोग कौन करेगा? फिर हम याद नहीं करते। फिर हमें क्या पडी है कि जानें वहाँ कौन आया कौन गया?

ठीक यही स्थिति तब होगी जब यहाँ से हमारी बिदाई होगी जिस दिन श्मशान-यात्रा होगी जिस दिन पिंजर का पंछी उड जाएगा जिस दिन यह मकान खाली हो जाएगा। उसके बाद इस जिन्दगी का स्वप्न भी हमें नहीं आयेगा। उसके बाद हम जिन्दगी के साधन का स्मृति में नहीं आयेंगे। किन किन से सम्पर्क था किन किन से हमारा सम्बन्ध था किनके प्रति हमारा राग था किनके प्रति हमारा द्वेष था किनके साथ हम झगडा करते थे किनके साथ हम मोह करते थे। पूरी जिन्दगी एक स्वप्न बन कर रह जाएगी और इस अर्थ में रह जाएगा कि उस स्वप्न तक की याद भी नहीं आयगी। बहुत से स्वप्न ऐसे होते हैं जिनका याद आता है, किन्तु कई बार निद्रा में इस प्रकार की भी स्थिति होती है कि याद नहीं पडता कि क्या आया और क्या गया? यदि वह नींद से उठने के बाद साथ तो कहता है मैंने कुछ देखा था पर क्या देखा था मुझे याद नहीं। याद रखें, याद भी नहीं रहेगा। आपको भी मुझे भी इसलिए ज्ञानियो ने कहा है कि 'यह जिन्दगी एक मुसाफिरखाना है यह जिन्दगी घडी भर का मेला है। यह जिन्दगी शाहिम का एक दाना है वह कुछ खट्टा और कुछ मिट्ठा स्वाद है इसका। 'यह पुण्य और पाप का मिश्रण है। पुण्य और पाप की मिश्रण में यह आत्मा इतनी आसक्त है क्योंकि उसने सत्य को नहीं समझा क्योंकि उसने देह में विराजमान आत्मा को नहीं जाना इसलिए इसकी यात्रा की एक ही दिशा है एक ही क्रम है एक ही ढंग है, अतः यह शरीर स्तर पर ही जीवन जीता है क्योंकि इसे ही यह जानता है। जानेगा नहीं तो जीयेगा कैसे? आत्मा को उसने जाना नहीं तो जीने का प्रश्न ही नहीं, जो जानेगा वह जीयेगा जो जानता नहीं वह जाता नहीं, जो सकता

नही। जीने का ढंग उसे आता नही। जीने का ढग आ ही नही सकता। जानेगा ही नही तो जीयेगा कैसे? यदि आपका सम्बन्ध किसी के साथ निश्चित हो न हो तो उसके प्रति आपका ध्यान कैसे जाएगा, उसके प्रति आपका आकर्षण कैसे होगा? जब जान लेते है, तब सारा ढग बदल जाता है और जब तक जानते नही, तब तक ढग नही बदलता। व्यवहार नही बदलता।

ज्ञानी कहते है सत्य को समझने के लिए यही जिन्दगी है, यही अवसर है, यही 'चान्स' है, यानी मात्र मनुष्य-देह। लाख चौरासी योनियो में इस देह को ऐसा मस्तिष्क कही मिलेगा भी नही। ज्ञान-तन्तु भी इतने विकसित नही मिलेगे; सोचने का ढग भी ऐसा नही मिलेगा, समझ भी इतनी नही मिलेगी, इतने ग्रन्थ भी नही मिलेगे, सत्सग भी नही मिलेगा। देह-स्तर पर, शरीर-स्तर पर जीवन जीने के लिए हर जिन्दगी मे साधन मिलेगे, किस स्तर के मिलेगे, यह बात एक अलग है। दुःखात्मक मिलेगे या सुखात्मक, यह एक अलग बात है। यदि नरक और तिर्यंच गति का योग है तो जीवन-यात्रा अधिक दुःखद होगी क्योकि वह पाप-सग्रह का प्रतिफल होगा, और पाप-सग्रह के प्रतिफल के लिए जीव को उन्ही योनियो मे जाना पडेगा जहाँ दुःखात्मक वातावरण ज्यादा है, और यदि पुण्य का अवसर आयेगा तो देह और मनुष्य गति; किन्तु सब जगह जहाँ भी मिलेगा, जो भी मिलेगा, स्तर शरीर का ही रहेगा। बुद्धि शरीर मे ही उलझेगी। उससे अधिक उसकी कोई चेतना नही है। यही तो कारण है कि जो जीव जिस समय जिस शरीर मे जन्म लेता है, उस समय उस शरीर के प्रति ही उसकी आसक्ति होती है, वही वह रहना चाहता है, वही वह जीना चाहता है, वहाँ से टूटना वह नही चाहता, वहाँ से छूटना भी वह नही चाहता, क्योकि उसी को स्वात्मरूप मानता है। एक चीटी भी है और वह भी यदि चल रही है, आप यदि उसकी राह बदल देगे, आप यदि हाथ आडा लगा देगे तो वह भी दिशा बदलना चाहेगी वह भी बचना चाहेगी, वह भी भागना चाहेगी, इसलिए कि कही मैं मर न जाऊँ? जिजीविषा हर जिन्दगी मे होती है। एक मक्खी है वह भी बचना चाहती है। एक मकोड़ा भी बचना चाहता है। आपकी, मेरी दृष्टि मे उनकी जिन्दगियाँ दुःखद हो सकती है, आपकी, मेरी दृष्टि मे उनकी जिन्दगियो का कोई अर्थ नही होता, पर उनकी दृष्टि मे उनका मूल्य है, और मूल्य है इसीलिए उस शरीर मे वे रहना चाहते है, किन्तु शरीर मे जाने का काम कौन करता है? हम ही करते है। शरीर को आमंत्रण हम ही देते है। इस शरीर का 'ट्रान्सफर' हम ही कराते है। कोई और नही कराता। किस आधार पर कराते है; अपने परिणामो के आधार पर। परिणाम किसके आधार पर है? परिणाम तादात्म्य के होते है। जो तादात्म्य बुद्धि है, जो 'देह मे आत्म-बुद्धि' है, पर-पदार्थो मे जो लगाव है, दूसरो के प्रति जो मोह

है —न मारे निमित्त में ही यह जीव जो अपने अन्तरंग के राग-द्वेष के भाव हैं उन्हीं में हर समय जाता है। यही भाव इसकी फिर जन्म-पत्री तैयार करते हैं। जन्म कुण्डली जिस किसी की भी बनती है पूर्व जीवन के आधार पर ही बनती है। बिना जीवन जीये जन्मपत्री नहीं बन सकती। जीवन हमने जैसा जीया है, जैसा हम जीयेंगे वैसी ही जन्मपत्री बनेगी। जन्मपत्री बनाने का ताकत किसी और में नहीं है, हमारे स्वयं के पुरुषार्थ में है। हमारा ही पुरुषार्थ भवान्तर में कर्म सत्ता से सम्बन्धित होता है। हमारे ही परिणाम हमारी गति तैयार करते हैं। हमारे ही परिणाम हमारी जिन्दगी का निर्धारण करते हैं किन्तु आश्चर्य कि हम शरीर को सँभालते हैं परिवार को सँभालते हैं मकान को सँभालते हैं अधिकार को सँभालते हैं, परिणामों को नहीं सँभालते!!! परिणाम बिगड़ रहे हैं इस बात कि हम चिन्ता नहीं है। सामान बिगड़ रहा है इस बात की चिन्ता है। दूध बिगड़ रहा है इस बात की चिन्ता हमें है। वस्त्र फट रहे हैं इस बात की चिन्ता हमें है। दो घड़ियाँ बेकार जा रही हैं, इसकी चिन्ता हमें है पर परिणामों की चिन्ता नहीं है।

हम दूसरों को सुधारने का प्रयत्न करते हैं। पर दूसरों को सुधारते समय क्या हम अपने परिणाम नहीं बिगाड़ते? प्रश्न अपने आप से कीजिये। हम दूसरों को सुधारने की बात करते हैं किन्तु पहले स्वयं अपने परिणामों को बिगाड़ते हैं। परिणामों को बिगाड़े बिना यदि कोई दूसरे को सुधारता तो बात मानी है। उससे सुधारने का कोई लाभ है? कोई लाभ है? कोई फल है। हमारी स्थिति क्या है? क्योंकि हमारे मानने का ढंग समझने का ढंग गलत है उसी आधार पर हमारी नजर दूसरों पर रहती है। हमारी दृष्टि दूसरों पर रहती है। हमारा लक्ष्य दूसरों पर रहता है और यहीं-कहीं जाकर हम दूसरों के दोष-स्वरूप बन जाते हैं। दूसरों के कल्याण करते हुए दूसरे के दोष निकालने के लिए हम पहले स्वयं अपनी आत्मा को दोषी बनाते हैं। स्वयं पहले अपने परिणाम बिगाड़ते हैं। किसी व्यक्ति ने कहा 'भगवान जब हमारा सामान हमारा रहना न मान ठीक ढंग से वह काम न करता क्या हम उसे शिक्षा न दें? क्या हम उसका मार्गदर्शन न करें? क्या उसके औचित्य की जिम्मेदारी हमारी नहीं है?' मैंने कहा—नहीं क्यों? कुछ हम सोचते हो है। तब हम उस सम्भावना को जन्म देते हैं समस्या को जन्म देते हैं। अभिभावक के नाते शिक्षा को जन्म दो किन्तु स्वयं को सम्भाल कर, स्वयं को बिगाड़ कर नहीं। स्वयं को संभाल कर हम दूसरों को सम्हालें तो हमारा नुकसान कहीं नहीं होगा। पर मुझे तो ऐसा लगता है कि दूसरों को सुधारने की बात तो हम बाद में करते हैं स्वयं के परिणाम पहले बिगाड़ते हैं। स्वयं पहले क्रोध से अभिभूत हो जाते हैं स्वयं को भी पहले असंयत करते हैं

हैं, स्वयं की वाणी पहले अव्यवस्थित हो जाती है, स्वय का शरीर पहले क्रोध में प्रकम्पित हो जाता है।

ऐसी स्थिति मे जब हम दूसरो का अनुशासन करते हैं, दूसरो का मार्गदर्शन करते हैं, तो उसमे कटुता बढती है। उसमे शब्दो की अव्यवस्था होती है। हमारा क्रोध उबलता है, और जब हमारा क्रोध उबलता है तो दूसरो का भी उबलता है, क्योंकि वह भी क्रोधी है, हम भी क्रोधी है। क्रोध तो क्रोध को उबालेगा ही। सामने वाला सुधरे, न सुधरे, किन्तु हमारे परिणाम तो बिगड ही गये।' किसी ज्ञानी ने मुझे कहा कि सुधारना चाहिये, जरूर सुधारना चाहिये, किन्तु सुधारने के लिए कदम बढे उसके पहले स्वयं को सँभाल लेना चाहिये और स्वय अपने परिणामो से कहना चाहिये कि 'देखो, तुम ठीक रहो तो मैं कहूँ। तुम बिगडो तो मैं न कहूँ। तुम शान्ति मे रहो तो मैं हिम्मत करूँ। तुम अशान्त हो जाओ तो मुझे हिम्मत नही करनी है।'

किसी का मार्गदर्शन करने से पहले दो मिनिट स्वय अपनी आत्मा को सँभालें और ऐसा करते हुए निर्णय ले कि तुम पहले मुझे विश्वास करा दो, तुम पहले प्रतिज्ञाबद्ध हो जाओ कि सामने वाले व्यक्ति के व्यवहार मे तुम्हारा मन अशान्त नही होगा, इसलिए पहले तुम तैयारी करो, फिर मुँह खोलो। यदि हम इस प्रकार का चिन्तन करेंगे, यदि हम इस प्रकार का प्रयत्न करेंगे और यदि हमारी आत्मा कुछ निर्मल है, कषाय मन्द है, यदि हमे अपने पुरुषार्थ को जागृत करना है, अपने परिणामो को सँभालना है, स्वय को सुधारना है तो शायद हमे सफलता मिल सकती है। चाहिये तीव्र लगन, प्रखर पुरुषार्थ।

परन्तु हमारी स्थिति तो यह है कि हम किसी को कहे, उसके पहले स्वय को सम्हाले, यह बहुत मुश्किल है। स्वय की तरफ नजर करे, बहुत मुश्किल है। एक मिनिट भी रुक जाएँ, बहुत मुश्किल है। एक मिनिट भी रुकने का भान नही आता और एक मिनिट यदि रुक जाएँ और स्वय को पहले उपदेश देने लग जाएँ, स्वय को पहले सँभालने लग जाएँ· यदि इस प्रकार की कोई भी प्रवृत्ति करेगा, कोई भी आचरण करेगा, स्वय अपना अनुभव करेगा और उसे महसूस होगा, तो वह सँभल सकता है। पर सँभलना नही है, केवल सँभलने की बाते करनी है, तो उससे कोई लाभ नही है। जिसे बदलना है, उसे सँभलना है, और जिसे सँभलना है, उसे ही सोचना है। जिसे बदलना नही है, उसे सँभलना भी नही है, और जिसे सँभलना नही है, उसे सोचना कोई जरूरी नही है। जीवन की गाडी जैसी चल रही है, चलती जाएगी और चलते-चलते ही एक दिन जीवन का अन्त हो जाएगा। जीवन का तो अन्त हो जाएगा, किन्तु संस्कारो का सग्रह आगामी यात्रा का फिर आरक्षण (रिजर्वेशन) करा देगा। दूसरा कोई नही करायेगा, वह स्वय ही करायेगा उसके स्वय के परिणाम ही करायेंगे, किन्तु परिणामो को देखने की बुद्धि इस जीव को आयेगी कब ?

चेहरे को देखने की बुद्धि भी आयी है। शरीर को वह देखता है, वस्त्रों को देखता है, मकान को देखता है, दुकान को देखता है, परिवार को देखता है, मित्रों को देखता है और सब को देखते हुए सब का निरीक्षण-परीक्षण करता है पर स्वयं के परिणामों को संभालने की बात इसके दिमाग में नहीं आती। जो स्वयं के परिणामों को संभालने की बात करेगा, मुझे लगता है वह बात करना ही कम कर देगा। उसकी बात ही कम हो जाएगी। दूसरों को डेंट-पेच वचन की आदत भी कम हो जाएगी। जरूरत से ज्यादा वह किसी को मार्गदर्शन भी नहीं करेगा। हर समय दाल भात में मूसलचंद बनने की आदत भी उसकी छूट जाएगी।

कहावत है न 'किसी किसी के लिए कि इसके बिना कम काम चलेगा'। ये तो जब हो तब लाडे की जुबा बनती है। काफी लोगों की आदत होती है। शायद मेरी भी हो उसमें। मैं भी आपके साथ हूँ, अलग नहीं हूँ। मैंने पहले ही कहा है कि उपदेश देना मेरा काम नहीं है। उपदेश देना ही सामूहिक स्वाध्याय है। अन्तर अधिक नहीं है। इस क्रम में आगे हो सकता हूँ, दो कदम आप पीछे हो सकते हैं। हो सकता है अन्तरंग से आप आगे हो सकते हैं, मैं पीछे हो सकता हूँ। कोई दावा नहीं है कोई ठेका नहीं है। किसी के परिणाम किसी ने देखे नहीं हैं। स्वयं के परिणामों का निर्णय भी यदि हम कर लें तो यह बहुत बड़ी बात है। दूसरों के परिणामों का निर्णय करने का मापदण्ड हमारे पास है नहीं और यदि करते हैं तो यह है अनधिकृत चेष्टा, अज्ञान का परिचय, अहं की सूचना। नहीं कर सकते किसी के परिणामों का निर्णय हम और निर्णय करने की जरूरत भी हमें क्या है? क्या जरूरत है?

हमें अपने ही परिणामों को संभालना है वही हमारी मूल पूजा है। जो अपने परिणामों को संभालेगा वह जरूरत से ज्यादा बोल भी नहीं सकेगा। वह तीखा भी नहीं बोलेगा, कटु भी नहीं बोलेगा। व्यंग्य की भाषा में भी नहीं बोलेगा। ईर्ष्या उसके हृदय में धधकती रहे ऐसी भाषा भी उसकी नहीं होगी क्योंकि वह बदल जाएगा।

किसी समय श्रीकृष्ण से गोपियों ने कहा कि ब्रज में हम आपके सामने हैं किन्तु क्या आपकी नजर हमारी तरफ उठी? आप टकटकी लगाये देखते जा रहे हैं, हर समय देखते जा रहे हैं कितनी देर से हम देख रहे हैं कि आपकी दृष्टि जमी है वचन बाँसुरी पर। उस-हो-उस देख रहे हैं। वह जड़ है वह निर्जीव है वह काष्ठ का टुकड़ा है उसकी तरफ क्या देखते हो? हमारी तरफ क्यों नहीं देखते? श्रीकृष्ण मुस्कराये और बोले—तुम्हारा कहना सही है तुम्हारी दृष्टि में यह लकड़ी है मेरी दृष्टि में इसमें बहुत गुण हैं। वह निर्जीव है लकड़ी का टुकड़ा है। इसमें क्या गुण होंगे?—गोपियों ने प्रतिक्रिया में कहा। श्रीकृष्ण ने फिर कहा—जिसकी गुणदृष्टि है वह सब जगह गुण देखेगा। जिसकी दुर्गुण-दृष्टि है वह सब जगह दुर्गुण देखेगा।

ऐसे भी लोग है समार मे जो हजार गुणो मे भी दुर्गुण खोजने की बुद्धि रखते है, और ऐसे लोग भी है समार मे जो हजार दुर्गुणो मे भी गुण देखने की बुद्धि रखते है। यह तो जिसकी-जैसी-दृष्टि उसकी-वैसी-सृष्टि है। यह तो स्वय की दृष्टि होगी, और स्वय की दृष्टि का ही यह एक बहुत बडा प्रमाण होगा। जब गोपियो ने कहा—'स्वामी बताइये तो सही, इसमे क्या विशेषता है?' श्रीकृष्ण ने कहा—'तुम्हे ध्यान होना चाहिये कि यह हर समय मेरे साथ रहती है, किन्तु पास रहते हुए भी जब तक मेरा सकेत न हो, मेरा आदेश न हो, मैं उसे जिह्वा मे न लगा लूं, होठो मे न लगा लूं, तब तक आवाज करने की इसकी आदत नही है। यह बोलती है, निश्चित रूप से बोलती है, पर कब? जब मैं चाहता हूँ तब।'

जरूरत से बोलने वाले कितने लोग है, और बिना जरूरत बोलने वाले कितने लोग है? जहाँ दो शब्द बोलने की जरूरत है, वहाँ दस शब्द बोलने वाले कितने लोग है, और जहाँ बीस शब्द बोलने की जरूरत है, वहाँ दो शब्द बोलने वाले कितने है? धन खरचने के समय मे जैसे व्यक्ति एक-एक पैसा सोच-सोच कर निकालता है, दो-चार रुपये भी देता है तो दो-चार बार विचार करता है। किसी और को नही देता, परिवार के सदस्यो को ही देता है, किन्तु देते समय कहता है कि देखो मैंने तुम्हे दो रुपये दिये है, देखो मैंने पाँच रुपये दिये है, भाई, वापस हिसाब ला कर देना। और देने से पहले विचार करता है कि देने की जरूरत भी है या नही? यदि दो की जरूरत है तो पाँच का नोट क्यो पकड़ाऊँ? किसी और को नही दे रहा है, फिर भी सोच रहा है कि जरूरत दस की है तो दस ही दूं। यदि दस की जरूरत है तो बीस क्यो दूं?

इसी तरह ज्ञानी भी शब्दो का मूल्य कम नही आँकते। वे अपनी शब्द-शक्ति का उपयोग भी जितना जरूरी-से-जरूरी होता है उतना करते है। सोच कर करते है, समझ कर करते है, उचित करते है, अनुचित नही करते, अव्यवस्थित नही करते। उनके शब्द किसी पर प्रहार करे, किसी को असन्तुष्ट बनाये, ऐसा शब्द-प्रयोग ज्ञानियो का काम नही है। इस प्रकार के शब्दो का प्रयोग यदि कोई करता है तो वह अज्ञानी ही है, क्योकि वह न अपने परिणामो को सँभालने की बात करता है, न यह सोचता है कि दूसरो के परिणामो को ठेस लगेगी। उसे दोनो की चिन्ता नही है। उसकी प्रवृत्ति तो वैसे ही चलती रहती है। श्रीकृष्ण ने कहा—'एक गुण तो मैने तुम्हे बताया। दूसरा गुण है सरलता और सादगी। यह मुरली बिलकुल सीधी है, इसमे कही बाँकपन नही है, कही टेढापन नही है। इसका तीसरा गुण है, जब-बोले-तब-मधुर। कटु बोलना इसे आता ही नही है। कटु नही बोलने वाले प्रिय होते है, सब के प्रिय होते है, क्योकि उनकी वाणी सरस होती है।

ज्ञानी अज्ञानियों पर द्वेष नहीं करते। ज्ञानी अज्ञानियों के प्रति घृणा भी नहीं करते। उनके प्रति भी वे कल्याण-कामना रखते हैं, उनके प्रति भी मैत्री भावना रखते हैं और उनका सम्बोधन करने में भी मधुर निश्छल शब्दों का प्रयोग करते हैं क्योंकि वे स्वयं के परिणामों को सँभालते हुए जागृत हैं और जब स्वयं के परिणामों को सँभालकर व्यक्ति बोलेगा तब उसकी वाणी अशान्त नहीं होगी। उसकी वाणी कटु नहीं होगी। उसकी वाणी में क्रोध नहीं होगा। हम विचार तो करें जरा कि पूरे दिन में कितनी बार इस प्रकार के शब्द प्रयोग हम करते हैं जिससे दूसरों के हृदय को ठेस लगती है। आँसू निकल आते हैं, उन्हें सन्ताप होता है, कष्ट होता है। आप शायद मानते हैं कि यह तो हमारे हैं इसलिए कहा करते हैं किन्तु यहाँ कौन हमारा है, कौन तुम्हारा है? हम प्रारम्भ में ही कह आये हैं कि हम सब तो एक डिब्बे में, कम्पार्टमेंट में बैठने वाले व्यक्तियों जैसे हैं। समय आने पर सभी को गाड़ी खाली करनी होती है और सारे यात्री कहाँ के कहाँ सभी अपनी अपनी दिशाओं में चले जाते हैं। व्यवहार-दृष्टि से भी हम जीवन ऐसा क्यों न जीएँ, जिससे जाने के बाद भी लोग हमारे जीवन का गान करें, कहें कि हम से पहले भी यह जीव कितना बड़ा अच्छा था, बड़ा मधुर स्वभाव का था, बड़ा मीठा उसका व्यवहार था, दूसरों के दुःख में काम आने वाला वह था, छिपने वाला नहीं था, अपनी शक्ति को गोपन करने वाला नहीं था, किन्तु जहाँ उसकी जरूरत होती थी, वहाँ आगे आने वाला वह था।

अपनी शक्ति और सामर्थ्य को जो दूसरों के हित में लगाता है निश्चित रूप से वह जगत् का प्रिय बनता है और जो दूसरों की शक्ति को भी अपवित्र रूप से छीनता है, उसके प्रति लोगों की क्या दृष्टि होती है? अभी ही मैंने किसी पुस्तक में पढ़ा कि साहित्यकार प्रेमचन्द प्रकृति से बहुत उदार थे। दूसरों के हित में निरत। उनकी इस प्रकृति के कारण उनके पास उनकी सामग्री नित्य प्रति कम सुरक्षित था। एक दिन उनकी पत्नी ने कहा कि 'देखते नहीं, आपका कोट कितना पुराना है? कहाँ फट गया है, नया क्यों नहीं सिला लेते?' बोले—सिला तो लूँ पर पैसे दो न। हाँ ठीक है, मेरी जिम्मेदारी, आप सिला लीजिए मैं पेमेंट कर दूँगी। 'मैं सिला लूँगा, तुम मुझे पैसे दे दो।' पैसे दे भी दिये और वे ले भी गये किन्तु जब शाम लौटे तो पूछा पत्नी ने—कोट का माप नहीं आया? मैंने तुम्हें पैसे दे दिये थे। वे चुप हो गये, गुमसुम हो गये। असली बात बताना नहीं चाहते थे क्योंकि इस प्रकृति की प्रशंसा वर्णन नहीं होता। बाद उदारता का प्रदर्शन करता है बाद उस पर शोर उठाता है, बखान करता है, प्रचार करता है। यह महान पुरुष का लक्षण।

आज भी ऐसा होता है कि [illegible] भाई [illegible] है किन्तु [illegible] चाहती कि भाई, भाई को [illegible]। और [illegible] अपना [illegible] समझते हैं, [illegible] जाते हैं। मैंने किसी को कहते सुना था कि '[illegible]' है भाई [illegible] है, किन्तु इस तरह [illegible] भाई के लिए कुछ करें, यह उसे बर्दाश्त नहीं है। [illegible] अधिकार चाहती है, और [illegible] हैं, [illegible] भाई-का-भाई [illegible], यह उसको बर्दाश्त नहीं है। [illegible] बेटा कुछ करे, यह भी बर्दाश्त नहीं है। [illegible] है और ऐसे भी प्रसंग आते हैं कि [illegible] तब ऐसे [illegible] है कि [illegible] नहीं है? ऐसी भी [illegible] है। [illegible] है कि उसे [illegible] जाता है। [illegible] धन नहीं बच सकेगा। [illegible] अधिकार [illegible]। [illegible] और सम्बन्ध नहीं रह पाते। उसके बाद भी है [illegible]। [illegible] है बटोरने की अव्यक्त भावना। [illegible] हो। जितना उपयोग करूँ, [illegible]। [illegible] सुख मिले मुझे ही मिले। [illegible] वे किसी दूसरे [illegible] पसन्द नहीं [illegible]। [illegible] कलियुग में ज्यादा पाया जाता है। मुझे तो कभी-कभी लगता है कि [illegible] के इतनी कमजोरी भी नहीं होनी चाहिये कि माँ की सेवा करने में भी [illegible]।

क्रोध-प्रकृति ऐसी है कि घबराना पड़ता है। पत्नी कभी तो कहती है, 'मैं पीहर चली जाऊँगी, कभी कहती है कि मैं घर से निकल जाऊँगी, कभी कहती है कि मैं आग लगा कर जल जाऊँगी।' डरे नहीं तो करे क्या? आखिर अपनी इज्जत को बचाये रखने के लिए, समाज में प्रतिष्ठा (पोजीशन) से जीने के लिए, बन्द मुट्ठी रखने के लिए अन्दर-ही-अन्दर वह जहर का घूंट पी जाता है और चाहते हुए भी सेवा नहीं कर पाता। कहीं-कहीं ऐसे नमूने भी सुने हैं कि सास-बहू में खूब बनती है, किन्तु माँ-बेटे में नहीं बनती। ऐसे भी उदाहरण हैं। कहीं बहू ज्यादा देखती है, बेटा कम देखता है। कहीं बेटा देखना चाहता है किन्तु बहू देखने नहीं देती, इसलिए बंटवारे हो जाते हैं। एक माँ के बंटवारे हो जाते हैं। नौकर की रोटी सस्ती रहती है और माँ की रोटी महँगी हो जाती है। मित्रों की रोटी मुश्किल नहीं होती। यदि भाई, बहिन को एक महीने में दो बार बुलाना पड़े तो मुश्किल रहती है, क्योंकि प्रकृति है। एक बटोरने की प्रकृति है, एक कजूसी की प्रकृति है, एक अधिकार को संकुचित करने

की प्रकृति है। ऐसी विषम स्थिति में आने वाला व्यक्ति कुछ अपने हाथ में करे, यह बहुत मुश्किल है।

हिन्दी के उपन्यासकार-सम्राट प्रेमचन्द ने सोचा कि मेरी पत्नी के लिए तो यह असह्य है। और उसने एक बार, दो बार, तीन बार पूछा— उन्होंने क्या नहीं किया? उन्होंने कहा कि तुमने कोट के लिए मुझे पैसे दिये, मैंने वे लिये और मैं सोच कर गया था कि किन्तु एक चिर-परिचित अध्यापक मुझे मिल गये जिनके सामने एक बहुत विकट समस्या थी। जब उन्होंने मुझसे कहा कि मेरी लड़की का विवाह है और इधर-उधर से साधन जुटाना भी मुश्किल है, तब मुझे ऐसा लगा कि काम तो इस कोट से भी कुछ समय चल सकता है किन्तु इससे अधिक जरूरी उसका काम है। इसलिए मैंने रुपये उसे दे दिये। कहने लगी— हाय जाइता है तुम्हारा स्वभाव का। एक लोग बहुत हैं संसार में उदारता जिनकी प्रकृति नहीं है। उदारता के महत्त्व नहीं कर सकते। कभी-कभी तो ६० ७० वर्ष की उम्र आ जाए तो भी व्यक्ति अधिकार छोड़ना नहीं चाहता। काफी लोग ऐसे हैं जो छोड़ भी देते हैं किन्तु कहीं-कहीं तो व्यक्ति को इस बात का दुःख है कि कोई पूछता ही नहीं है। कोई आता माँगता ही नहीं है। सिनेमा जाए तो मन से मित्रों के यहाँ जाए तो मन से। खाना पहले से ही तैयार रहता है। वह आसक्ति तोड़ देता है।

एक दिन मैंने कहा था। पचास वर्ष की उम्र के बाद यदि उत्तरदायित्व सँभालने वाला घर में हो तो उत्तरदायित्व छोड़ देना चाहिये, अधिकार की भूख छोड़ देना चाहिए। अपने आप को अलग कर लेना चाहिये और परिवार से कह देना चाहिये कि हम तो तुम मेहमान समझो। तुम मन से अपने ढंग से जीओ अपने ढंग से रहो। कहो जरूरत-मजरूरत जरूरत पड़े तो हमसे पूछो क्योंकि—

मारे आ घर खाली करवानी वेला आवी समालियो चावी।

मारे आ घर खाली करवानी वेला आवी।।

मुझ से किसी ने पूछा कि मारे घर खाली करवानी वेला आवी यह तो आपने समझाया पर चाबी किसे दें यह नहीं बताया? मैंने कहा— भाई कानूनी चाबी समझ रहा। तिजोरी की चाबी पूरी तरह से दे देना भी खतरनाक होता है कलियुग में। कभी-कभी यह भी स्थिति हो जाती है कि सज्जनता का गलत लाभ उठा लिया जाता है और जरूरत जितनी भी अपने पास न रखें तो वही कपूत ऐसे भी हाल हैं कि उनके पास लेना देना तो कुछ नहीं है रोटियां का भी ध्यान नहीं रखते। इसलिए जहाँ परिवार के सदस्य इस प्रकार हों वहाँ पूरी चाबी देना भी खतरे से भरा है। थोड़ी बहुत चाबी संभाल कर भी रखना चाहिये और यदि परिवार के सदस्यों पर विश्वास है तो पूरी तरह से दे देनी चाहिये किन्तु घमण्ड और अहं की चाबी जरूर छोड़ देनी चाहिये। सत्ता की चाबी दे देना चाहिये। घमण्ड की चाबी फिर नहीं रखनी चाहिये कि मुझे

क्यो नही पूछा, मुझे क्यो नही पूछा ? ये सारे भाव तो छोड ही देने चाहिये, क्योकि इनके कारण व्यर्थ मे सक्लेश के परिणाम होगे, व्यर्थ मे अशान्ति होगी। उस उमर मे हर व्यक्ति स्वय अपने उचित-अनुचित का विवेक कर लेता है। जानता है, और यदि नही भी जानता है तो भी वह जिस ढग से जीयेगा उसी ढग से जीयेगा। मृत्यु के बाद कहाँ सँभालने आ सकोगे, इसलिए अधिकार की चाबी जीते-जी दे देनी चाहिये। पचास-साठ वर्ष की उम्र मे तो व्यक्ति को 'घर-मे-ही' इस प्रकार का जीवन जीना चाहिये कि अब यह शरीर जितने दिन के लिए है, हरि-भजन के निमित्त है। प्रभु की भक्ति के लिए यह है, सत्सग के लिए यह है। जरूरी-से-जरूरी काम समझे तो उसे कर देना चाहिये, बिना किसी अधिकार-भावना के सहयोग देने की भावना से; क्योकि काम बिलकुल छोड देने पर भी परिवार के लिए मुश्किल हो जाएगा, पर 'अधिकार-की-लोलुपता' छोड देनी चाहिये, उसकी आसक्ति छोड देनी चाहिये और मान लेना चाहिये कि पता नही 'कब मकान खाली करना पडे।'

पर कही-कही तो व्यक्ति को इतना अधिक अहं होता है, अधिकार-सुख की इतनी लोलुपता होती है कि 'छोडने-की-बात' ही उसे नही सुहाती। मैंने देखा एक बहिन को, ५५ वर्ष की उम्र, पाँच-छह बेटे, चौका-सब-का-साथ, सवेरे आठ बजे निकले तो साढे नौ दस बजे तक सब्जी ले कर आये। एक दिन उससे मेरी बात हुई तो कहने लगी—'महाराज, साग-सब्जी तो मैं ही लाती हूँ'। मैंने कहा इस उम्र मे और आप साग-सब्जी लाती है तो क्या घर मे कोई पुरुष नही है ? पॉच बेटे है, पर उन्हे घर सँभालना नही आता। वे महँगी-से-महँगी चीज उठा लाते है। और मैं कई दुकानो पर खोज करते-करते, ढूढते-ढूढते, भाव कम कराते-कराते ले कर आती हूँ।' मैंने कहा—'कितना फरक पडता है ?' 'रुपये आठ आने का।' 'समय कितना लगाती हो ?' 'दो घण्टे'। मैंने कहा—'धूल महँगी राल सस्ती। इतने समय तक, इतने कम पैसो की बचत के लिए अपनी सम्पूर्ण जिन्दगी बर्बाद करना, क्या यह समझदारी है ?'

जहाँ मृत्यु सिरहाने खडी है, जहाँ गाडी कब आ जाएगी इसका कोई अता-पता नही है, ऐसे क्षणो मे भी व्यक्ति को बाहर की पड़ी है ? क्योकि उसने शरीर-स्तर पर जीवन जीया है। शरीर-स्तर पर जीवन जीया है, इसीलिए उसकी दृष्टि मे महत्त्व पैसे का है, परिवार का है, सम्बन्धो का है। 'समय की बर्बादी' यह कोई दृष्टिकोण है ? समय का उपयोग मेरी आत्मा के लिए हो, ऐसे उसके भाव नही हैं, क्योकि जीवन जीने की दूसरी दिशा उसने देखी नही है, जानी नही है, अनुभव ही नही की है। उसका इसमे क्या दोष ? ज्ञानी कहते हैं, इसी जिन्दगी मे आध्यात्मिक जिन्दगी जी सकते हो। अन्तर्यात्रा कर सकते हो। अन्तर्यात्रा के लिए बहिर्मुख वृत्ति को जो इस जीव की अनन्तकाल से है, अन्तर्मुखी बना लेना होगा।

वृत्ति अंतर्मुखी बनेगी तो ही आत्म-स्तर पर जीवन जीना संभव होगा और आत्म स्तर पर जीवन जीने का क्रम यदि साधक का रुचि बन जाएगा तो हर समय व्यक्ति को अपने परिणामों को संभालने की चिंता रहेगा। वह स्वयं के परिणामों को सँभालते हुए सब कुछ करेगा। स्वयं के परिणामों को खो कर कुछ नहीं करेगा। जहाँ आत्म-दृष्टि नहीं तत्त्व-दृष्टि नहीं केवल बाह्य दृष्टि है, वहाँ व्यक्ति शक्ति के अभाव में भी साहस करता है। गलत ढंग से गलत दिशा में प्रयास करता है। दूसरों के अधिकार छीनता है, कहाँ-कहाँ तो उसकी इतनी पाप-वृद्धि होती है कि वह यह मान कर चलता है कि जाना है फिर चाहे कैसे भी जाऊँ?' जितना भी पाप वह करे उसके मन में कोई विकल्प ही नहीं होता। अपनी गति तिर्यंच या नरक तैयार करे इसकी भी उसे कोई चिंता नहीं है। ऐसे लोग हो हैं जिनकी दृष्टि है कि पा जाऊँ किसी तरह पा जाऊँ कैसे भी पा जाऊँ चोरी से पा जाऊँ, गलत ढंग से पा जाऊँ। गलत ढंग से भी उसे वहाँ भी आत्मा का विकल्प नहीं आता।

कुछ दिन पहले हमने सुना, अखबारों में भी हम आये दिन पढ़ रहे हैं प्रचार भी हो रहा है विरोध भी हो रहा है कि छावनी-मन्दिर (इन्दौर) में चाँदी मूर्तियाँ चुरायी गयीं। उसके पहले सदर मन्दिर की मूर्तियाँ चुरायी गयीं। एक वर्ष में कितने मन्दिरों में कितनी मूर्तियाँ चोरी जा रही हैं। दो चार, या दस-पाँच वर्षों में तो जरूर कोई यह क्रम निरन्तर है और हम हैं कि थोड़ा बहुत कोशिश कर के बैठ जाते हैं। और मूर्तियों की चोरी का क्रम जारी है, ज्यों-का-त्यों है। यदि मूर्तियाँ इस प्रकार जाती रहेंगी और हम संगठित हो कर कोई सक्रिय कदम नहीं उठायेंगे तो एक दिन सब कुछ चौपट हो जाएगा इसलिए पूरी कोशिश करनी चाहिये कि यह सिलसिला बन्द हो, और हम हर तरह से संगठित हों उचित अहिंसात्मक सक्रिय कदम उठाया जाए अन्यथा हमारी असावधानी और उदासीनता का गलत फायदा उठाया जाता रहेगा।

विवेकपूर्वक औचित्य का ध्यान रखते हुए अहिंसात्मक ढंग से संगठित होकर अहिंसा प्रेमी, धर्म प्रेमी लोगों को इस प्रकार की आवाज उठानी चाहिये शासन सरकार की भावना यह कि जहाँ-जहाँ ऐसी कर्म प्रवृत्ति को रोकना है। कब से ऐसा हो रहा है कितना समय हो गया है और हम दो चार दिन आवाज करके चुप हो जाते हैं और फिर वही क्रम चालू हो जाता है। उन व्यक्तियों की बुद्धि तो कुबुद्धि है ही किन्तु जिन्हें पैसों का लालच है वे भी क्या धर्म बुद्धि है? कितने ही ऐसे लोग जिनका यह व्यापार है क्योंकि पता हो उनका अंतिम लक्ष्य है। विदेशों में प्राचीनता का मूल्य बढ़ रहा है। ऐसी सट्टा में हम अपनी संस्कृति को अपनी कला को खो रहे हैं। यह कोई भी व्यक्ति हो किन्तु वह तो

अन्ततः भ्रान्तिमय ही। और इस तरह के व्यापार में जितने व्यक्तियों का सहयोग होता है, क्योंकि चोर तो किसी की मूर्तियाँ ले जा कर दे देता है। फिर तस्कर-व्यापारी वे बाहर भेजते हैं, उनका निर्यात करते हैं।

तो इस आत्मा की बहिर्मुखता की वजह से प्रगाढ़ मिथ्यात्व उत्पन्न होता है, तब बुद्धि इतनी दुर्बल हो जाती है कि 'पैसे कमाना' यह लक्ष्य नहीं रहता मात्र कमाना ही लक्ष्य बना रहता है और यह इसलिए होता है क्योंकि उसने शरीर-स्तर से अधिक कुछ देखा ही नहीं। शरीर स्तर की बात ही वह समझता रहा है।

क्या कभी हम इस सत्य को समझेंगे? क्या कभी हम इस सत्य पर विचार करेंगे? क्या कभी हमारी दृष्टि अन्तरात्मा पर जाएगी या हम शरीर-स्तर पर ही जीते-मरते रहेंगे? यह क्रम तो चल ही रहा है चलता ही रहेगा। यह तब तक चलता रहेगा, जब तक आत्मयात्रा प्रारम्भ नहीं होगी, अध्यात्म-यात्रा प्रारम्भ नहीं होगी। जब तक अन्तर्मुख वृत्ति नहीं होगी तब तक यह प्रवृत्ति चलती ही रहेगी, किन्तु सत्संग का उद्देश्य सत्संग का लक्ष्य एक ही है कि हम इस मनुष्य-जीवन में अन्तर्यात्रा का शुभारम्भ करें। जानें कि इस अन्तर्यात्रा को प्रारम्भ करने के लिए शरीर में कौन अवस्थित है, उसका स्वभाव क्या है, वह कहाँ से आया है, कहाँ वह जाएगा, जाने के समय उसका क्या होगा; अपनी जिन्दगी का आधार क्या है, यह सारा-का-सारा उसका चिन्तन हो, लक्ष्य हो। केवल पाँच, या सात मिनिट आँखें बन्द करके मनुष्य इतना ही विचार करे कि मैं जिसके लिए कर रहा हूँ, जितना कर रहा हूँ, और जैसे कर रहा हूँ, अन्ततोगत्वा उसमें से मेरे हाथ में क्या आयेगा? इतना भी यदि वह विचार करे शान्त परिणामों से करे एकान्त में बैठ कर करे, और विचार करे कि 'अन्ततोगत्वा क्या'? क्योंकि सीट तो खाली करनी पडेगी। सीट तो खाली हो ही जाएगी, हम चाहे, न चाहे। हमारे चाहने, न चाहने से कुछ बनता-बिगडता नहीं है। दीपक बुझ ही जाएगा चाहे कितने भी व्यक्ति चाहे कि वह जलता रहे, पर दीपक तो बुझ जाएगा, अवश्य बुझ जाएगा; उन क्षणों में, जब तेल खत्म हो जाएगा। तेल खत्म होने पर दीपक बुझेगा ही, हमारी साँस जैसे ही पूरी हुई, मनुष्य-जिन्दगी से हम सदा-सदा के लिए विदा हो जाएँगे और विदाई में हमारे सम्पर्क में रहने वाले सम्बन्धी या मित्र या मोहल्ले के लोग, जो भी हैं, थोडी देर के लिए जरूर हमारा साथ देंगे, किन्तु शरीर का साथ देंगे, शरीर को जला कर आयेंगे, किन्तु जो अगली जीवन-यात्रा प्रारंभ होगी, वह इसी जीवन के आधार पर होगी। जो जन्मपत्री बनेगी वह इसी जीवन के आधार पर बनेगी। जीवन परिणामों के आधार पर बनेगा। परिणाम विचारों के आधार पर बनेंगे। सत्संग से सत्-असत् का विवेक आयेगा। यदि आपको, मुझे, किसी अन्य को भी यदि परिणाम सँभालने का विवेक आयेगा, तो निश्चित ही सत्संग का लाभ सही रूप में मिलेगा, अन्यथा हम मुट्ठी बाँधे आये थे और खाली हाथ चले जाएँगे। □

—इन्दौर : २६-१२-८१

स्वयं-पर-स्वयं का-अनुशासन संयम है। सम्यक्त्व की स्वीकृति संयम है। अभी अभी जो भजन हमने सुना, उसके शब्दों पर ध्यान दें। धर्म बिना कैसा जीना ? मुझे मार डाल, सारा शब्द-संयोजन बड़ा ही प्रिय लगा। बड़ा ही अच्छा लगा। ऐसा महसूस हुआ कि अनन्तकाल से इस जीव ने धर्म के बिना ही जीवन जिया है। धर्म बिना भला क्या जीना? अनन्त काल तक इस आत्मा ने स्वधर्म को समझे बिना ही जीवन जिया है, इसीलिए जब कभी भी गुरुजनों के पास आप जाते हैं और यन्त्रविधि करते हैं तब उत्तर में एक शब्द होता है धर्मलाभ धर्म लाभ अर्थात् आपको धर्म का लाभ हो। लाभ शब्द चिर परिचित है। लाभ शब्द बड़ा प्रिय है। यह जीव लाभ की लिप्सा में तो जीवन जीता ही है। लाभ शब्द के लिए तो दौड़-धूप कर ही रहा है। इसका जितना भी प्रयत्न है यह सब लाभ के लिए ही है। यहाँ तक कि धर्म स्थान में जिन्हें हम सम्बोधित करते हैं पीर की शरण, गुरु की शरण, देव और देवियों की शरण जो जाते हैं यह सब भी लाभ के लिए ही जाते हैं। अधिकांश ऐसा ही होता है।

पर यह लाभ कौन-सा? पुत्र का धन का ऐश्वर्य का कीर्ति का सम्मान का घर के मकान का शरीर की स्वस्थता का। लाभ शब्द बहुत प्रिय है बहुत परिचित है किन्तु ज्ञानी गुरु जिस लाभ के लिए हमें सचेत करते हैं आशीर्वाद देते हैं क्या उस लाभ की ओर हमारी नजर कभी गयी है? धर्म का लाभ। धर्म क्या है? वत्थु सहावो धम्मो। वस्तु का जो यथार्थ स्वरूप है वही उसका धर्म है। उस चैतन्य गुण का उस आत्म गुण को समझे बिना जाने बिना यह प्राणी अनन्तकाल से भटकता जा रहा है किन्तु मेरा धर्म क्या है? यह आज तक भी इसने नहीं जाना।

धर्म करके भी धर्म को नहीं जाना। धर्म जाने बिना ही मान लिया स्वयं को कि मैं धर्मात्मा हूँ। धर्मात्मा तो मानते हैं। हर व्यक्ति कहेगा कि धर्म के बिना कैसे जी रहे हैं हम? किसी न किसी धर्म से जुड़े हुए हैं। कोई वैष्णव धर्म से जुड़ा है कोई शैव से। कोई कृष्ण की भक्ति करता है कोई राम की। कोई रहीम की भक्ति करता है कोई अल्लाह की तो कोई महावीर की उपासना करता है कोई बुद्ध की।

गुरुओ से भी वह जुडा हुआ है। कोई स्थानकवासी परम्परा के मुनियो को गुरु मानता है, कोई मन्दिर-परम्परा के मुनियो को, कोई दिगम्बर परम्परा के मुनियो को। देव शक्ति की भी उपासना कर रहे है। गुरु तत्त्व की उपासना भी कर रहे है। धार्मिक क्रिया करके हम धर्म की उपासना कर रहे है, ऐसी हमारी मान्यता है, किन्तु इसके बाद भी, यह सब करते हुए भी, जिस उद्देश्य को ले कर उपासना करना है, जिसको समझने के लिए करना है, जिसको पाने के लिए करना है, जिसको जाने बिना ही अनन्तकाल से जीवन जीया जा रहा है, उस आत्मतत्व को जानना, आत्मधर्म को जानना ही 'धर्म का लाभ' है। वह लाभ जब इस जीव को हो जाएगा तब फिर न डूबने का प्रश्न उठेगा, न जलने का। डूबने का प्रश्न भी नही और जलने का प्रश्न भी नही।

जीव को राग के निमित्तो मे डुबकी लगाते देर नही लगती। द्वेष की अग्नि मे जलते फिर भी देर लगती है, अर्थात् द्वेष आया यह फिर भी मालूम पडता है, पर राग आया यह तो मालूम ही नही पडता। किसी ज्ञानी ने कहा है कि राग-भाव मे व्यक्ति अपने-आपको इतना जल्दी ले जाता है जैसे कोई तालाब मे गिरने वाला क्षण-भर मे डूब जाता है। द्वेष की अग्नि मे फिर भी समय लगता है। रागभाव मे डूबते देर नही लगती। जब तक यह जीव रागभाव मे डुबकी लगा रहा है, द्वेषभाव मे डुबकी लगा रहा है, तब तक इसने आत्मधर्म को नही समझा। धर्म करके भी धर्म का लाभ इसे नही हुआ। धर्म तो किया, किन्तु धर्म का लाभ नही हुआ। धर्म का लाभ क्यो नही हुआ? इसलिए कि जो स्वय का स्वभाव है, उसको इसने नही पाया। स्वय का स्वभाव कैसा है? अभी इस भजन मे आप सुन गये—क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि किसके धर्म है? स्वय के। धर्म क्या है? अपना स्वभाव। अनन्तकाल हमने जीवन जिया, शरीर-स्वभाव के आधार पर। शरीर के स्वभाव के आधार पर शरीर-धर्म के आधार पर जब हमने जीवन जिया तब शरीर की दृष्टि से ही हानि और लाभ की कल्पना हमारे दिमाग मे चौवीसो घण्टे छायी रही। चौवीसो घण्टे हानि-लाभ, हानि-लाभ के विकल्प चलते रहे। हर समय इस प्रकार के विचार चलते है, क्योकि शरीर के आधार पर अनन्तकाल से यह जीव जीवन जी रहा है, और शरीर के आधार पर जो जीवन यह जी रहा है, नाम के आधार पर जो यह मान्यता इसने बना रखी है, जाति जिसका मापदण्ड है, ऐश्वर्य जिसकी कसौटी है, तो इन सब के लाभ-अलाभ को ही यह अपनी जिन्दगी मानता है। जहाँ कही भी, जब कभी भी इन लाभो मे अलाभ की आशका भी इसे आती है, वही क्रोध भाव, वही ईर्ष्या भाव, वही द्वेष भाव, वही मानहानि का भाव, वही कषाय भाव इसमे करवट ले लेता है। जब तक कषाय भाव है तब तक आत्म-स्वभाव का लाभ नही हो सकता। यही बात

सुनना है क्योंकि इस सुनने के बाद ही ऐसी अवस्था आएगी जब वह स्वयं स्वयं में अनुशासित होगा। स्वयं स्वयं में अनुशासित कब होगा? जब ज्ञान का जागरण इसमें होगा। कौन से ज्ञान का? सम्यक ज्ञान का, सम्यक दर्शन का। तब वह स्वयं स्वयं को जानेगा। वहां से शरीर के प्रति 'मैं' की जो मान्यता है वह टूटेगी और जब 'मैं' की मान्यता टूटेगी तब उसके सुख-दुःख में जो हर्ष और द्वेष होता है वह कम होगा। हर्ष और द्वेष जो कम ज्यादा हो रहा है यह 'मैं' की मान्यता के आधार पर ही है। जब एक बच्चा रो रहा है, आवाज उसकी भी आ रही है, वह पड़ोस में रहने वाले किसी परिवार का बच्चा है। उस बच्चे की आवाज को सुन कर आप कहते हैं—बच्चा रो रहा है। आवाज तो आ रही है। आप वापिस जवाब भी दे रहे हैं कि भाई किसका बच्चा रो रहा है? क्यों रो रहा है? संभालो। किन्तु कुछ ही क्षणों में उसका अपना बच्चा रोने लगता है। आवाज दोनों की आयी। अनुभूति दोनों की आवाजों की हुई किन्तु पड़ोस के बच्चे की रोने की आवाज आने पर हमारे मन में कोई हलचल नहीं हुई। जवाब तो दे दिया, उत्तर तो दे दिया, उसके सम्भालने की बात भी कह दी, पर वहां 'मैं' नहीं है, ममत्व नहीं है, इसलिए हृदय में रागात्मक उद्वेलन नहीं है। आकुलता-व्याकुलता नहीं है। मन में परेशानी नहीं है। क्यों नहीं है? क्योंकि आवाज तो है, बच्चा भी है पर वहां 'मैं' का सम्बन्ध नहीं है। 'मैं' का सम्बन्ध नहीं है इसलिए विकलता नहीं है। 'मैं' का सम्बन्ध नहीं है इसलिए परेशानी नहीं है।

हमारे 'मैं' का सम्बन्ध धन और आगे धरती, रूप और रुपये से जुड़ा हुआ है, उसी के कारण हमने शरीर के नाम को अपना नाम, पुत्र के नाम को अपना नाम, मकान के नाम को अपना नाम, दुकान के नाम को अपना नाम मान लिया है। जहां इन नामों में हमारा 'मैं' का भाव आ जाता है, मोह भी आता है, माया भी आती है, राग भी आता है, द्वेष भी आता है। आज भाई-भाई के बीच सम्बन्ध भी टूटते हैं। और-तो-और अपना दलाल यदि भाई का दलाल हो जाए तो भी दुःखी हो जाते हैं। आज मेरा दलाल चला गया क्योंकि मेरा दलाल मेरी पार्टियां ले जाता है। मेरा दलाल बड़ा होशियार है। बहुत समझदार है। उस दलाल की बुद्धि के पीछे ही तो मेरा व्यापार चल रहा है। वह यहां और मेरा गया भाई के यहां गया फिर भाई तो [illegible] पड़ता है। इसलिए अपने व्यापार-लाभ में जब [illegible] आया तब वह क्या-से-क्या हो गया? दुःखी हो गया। यहां तक कि उसने निश्चय भी कर लिया कि यदि अब मेरा दलाल को रखा तो जिन्दगी भर के लिए तुम्हारे और मेरे बीच के सम्बन्ध टूट जाएंगे। क्या दलाल के जाने से भाग्य बदल जाएगा? क्या पुण्य या प्रकृति बदल जाएगी? कुछ नहीं बिगड़ेगा। [illegible]। मन बदल गया और अलाभ को आश्रय मिल गया।

इस अलाभ की आशका से ही ना मालूम मन मे कितने सकल्प-विकल्प हो गये ? कितनी गलत धारणाएँ बन गयी ? सोचने का ढग कितना बदल गया ? समझने का ढग बदल गया। राग क्षण-भर मे द्वेष मे बदल गया। हाडो का सम्बन्ध रह गया। प्रेम सूख गया। ऐसा हुआ क्यो ? धन मेरा है, यह माना। धन के अलाभ की बात व्यक्ति पसन्द कर ले, बहुत मुश्किल है। धन बीच मे आ जाए और फिर भी सम्बन्ध निभ जाएँ, बहुत मुश्किल है, क्योकि धन के लाभ को ही परम लाभ इस जीव ने माना है।

'धरम का लाभ सबसे बडा लाभ है' इस यथार्थ का बोध जब इसे होगा, सम्यक्त्व का बोध जब होगा और आत्मा का बोध जब होगा और आत्मधर्म का लाभ जब इसे होगा, तब जीव समझेगा कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र्य ही मेरा धन है। यही शाश्वत है। यही सदा रहने वाला है, और यही मेरी आत्मा का गुण है। ज्ञान और दर्शन मेरी आत्मा का गुण है। पर इन गुण की उसे चिन्ता नही है। मेरा स्वभाव मैं प्राप्त करूँ इसकी कोई चिन्ता नही है। वह स्वय की प्रकृति मे क्षमाभाव रखे, ऐसा प्रयत्न नही करता, स्वय का सयम नही, स्वय का दमन करता है। स्वय के दुर्गुणो का दमन करता है। क्रोध आ-कर सघर्ष की ज्वालाएँ भडका देता है। सघर्ष की ज्वालाएँ जहाँ है, वहाँ सयम नही है। सयम नही है, क्योकि सयम तो सम्यक् ज्ञान की स्वीकृति है और सम्यक् मन की जो यह स्वीकृति है उसमे सयम है, अपने-आप को आमूल बदलने का प्रस्ताव है।

इस जीव ने मोहभाव से ही जगत् को अपने साथ जोडा है और यदि मोहभाव छूट जाए तो जगत् के साथ इसका सम्बन्ध टूट जाए। जगत् रह जाएगा, जगत् मे रह जाएगा। जगत् मे रहेगा। जगत् मे भी रहेगा, किन्तु जब आत्मधर्म को समझ लेगा तब शरीर के प्रति 'मैं' वृत्ति समाप्त हो जाएगी। 'मैं' बुद्धि समाप्त हो जाएगी। तो 'मैं' बुद्धि के आधार पर जो राग-द्वेष का व्यापार चल रहा है वह भी ठण्डा पड जाएगा, क्यो 'मैं' गायब हो गया। राग-द्वेष के परिणाम करने वाला चला गया। कहाँ चला गया ? स्वय अपने रास्ते, अपने घर स्वगृह चला गया तो चलायेगा कौन फिर उस व्यापार को ? ड्रायवर यदि घर चला जाए तो मोटर चलायेगा कौन ? मोटर को चलाने वाला ड्राइवर-तत्त्व है। यहाँ राग-द्वेष के परिणाम करने वाला आत्म-तत्त्व है। भले ही उसकी विभाव दशा है, भले ही उसकी अज्ञान अवस्था है, पर है वह आत्मा ही। मुर्दा कभी राग-द्वेष नही करता। शव कभी राग-द्वेष नही करता। शव मे अनुभूति नही, चेतना नही, स्पन्दन नही। किसी शव ने आज तक नही कहा होगा कि मेरे हाथो की कमाई है, मेरी भुजाओ की कमाई है, और मैंने स्वय अपनी कमाई के आधार पर

यह नगीना खरीद कर अँगूठी बनवायी थी, तुम कौन होते हो निकालने वाले? कहने की ताकत नहीं है उसमें, क्योंकि अनुभूति नहीं है। किसी शव ने यह नहीं कहा कि मैं तो मखमल के गद्दे पर मैं लेट रहा था और तुमने जैसे ही मेरी स्थिति बदली, मुझे जमीन पर डाल दिया। मेरे पदार्थों से ही मुझे अलग कर दिया। मेरे मकान से ही मुझे अलग कर दिया। मेरे सम्बन्धियों से मुझे अलग कर दिया। जैसे ही सच्चिदानन्द घन आत्मा निकला, तीन खण्ड का पाहुना उतर कर कहाँ आ गया? परिवार ने कहाँ उतार दिया? चौक में लाकर सुला दिया। सुला ही नहीं दिया, यह मृत्यु के क्षणों में गद्दा भी बदल दिया। इधर तो मरण की वेदना और इधर मोह के अविवेक का किया। अरे एक बिस्तर यदि उसके साथ चला भी जाएगा तो क्या हो जाएगा? जिन्दगी की सारी कमाई छोड़ कर जा रहा है। सारा वैभव छोड़ कर जा रहा है। सारा सृजन उसका यहीं है। मृत्यु के क्षणों में तकिये को हटाना, गद्दे को हटाना, और पलंग से नीचे उतारना—एक तो अन्तर की वेदना, मरण के क्षणों की तीव्र वेदना और फिर ऊपर वाले कोई टांग खींचते हैं, कोई हाथ खींचते हैं। मरा मरा मरा, अब तो यह मर ही रहा है। यह तो जा ही रहा है। गद्दे को तो बचा लो। गद्दा मखमल का है, रजाई नई है। इसी पर भराई है। इसको तो हटा दो। यह है दुनिया!!! वास्तव में ज्ञानी कहते हैं कि तू किसे अपना कहता है? किसे अपना कहता है? जो अपना है उसे तूने जाना ही नहीं। उसे जिसके जाने के बाद तेरे जीवन की यहाँ कोई कीमत ही नहीं है। जिसके जाने के बाद तो इस शरीर को जल्दी से जल्दी राख में बदलने की तैयारी होती है। सबसे आगे ले लेंगे। चार कन्धों पर ले लेंगे। आगे कर देंगे। सबसे आगे कर देंगे।

ज्ञानी यानी शव कह रहा है कि तुम भले ही मुझे आगे कर दो पर तुम भी पीछे नहीं रहोगे। तुम्हारा भी नम्बर आने वाला है। भले आज तुमने मुझे आगे कर दिया। वास्तव में मैं आगे हो गया। केवल जाने के लिए मैं आगे हो गया। जाने के लिए मैं आगे हो गया। सब पीछे रह गया। तुम कब तक पीछे चलोगे? कब तक पीछे चलोगे? जितने भी तुम मेरी श्मशान-यात्रा में पीछे पीछे आ रहे हो, तुममें से हर व्यक्ति एक दिन 'आगे' होगा। जिस दिन आगे होगा, यही अवस्था होगी। यही अवस्था तुम्हारी दुनिया करेगी। भूल मत जाना। यही अवस्था होगी और कुछ नहीं, यही अवस्था होगी। पर यह जीव समझता कहाँ है? नहीं समझता। सोच कर भी नहीं सोचता। सुन कर भी नहीं सुनता। पढ़ कर भी नहीं पढ़ता। उपदेश दे कर भी उपदेश नहीं लेता। उपदेश देना जरूरी नहीं, उपदेश लेना जरूरी है। पर इस जीव को दन के ही भाव आते हैं। मिग्रान के ही भाव आते हैं। श्मशान के ही भाव आते हैं। दूसरों को बदलने

के ही भाव आते है। सब अज्ञान भाव। सिखाना, समझाना, उपदेश देना सब भाव आते है, क्योंकि उपदेश लेने की वस्तु है, देने की वस्तु नहीं है। सुनने की वस्तु है, सुनाने की वस्तु नही है। समझने की वस्तु है, समझाने की वस्तु नही है। समझने के क्षणो मे भी हमारी अज्ञानता, हमारी कल्पता हमको स्वय से नही जोडती और सुनने के क्षणो मे भी हमारा दिमाग किसी और को याद करता है। वह व्यक्ति ऐसा है, वह व्यक्ति वैसा है, वह व्यक्ति वैसा है, यानी मै सर्वज्ञ हूँ। जैसे मुझमे तो कोई दोष है ही नहीं। मुझमे कोई कमी है ही नही, इसलिए दुनिया को नजर मे रख कर सुनता है, किन्तु बुद्धि मे किसी और को याद करता है। उसकी आदत ही ऐसी है। उसकी आदत ही ऐसी है।

उसकी प्रकृति ही ऐसी है। सुनने के क्षणो मे भी सुनने के भाव नही है। सत्सग मे जहाँ अपने दुर्गुण देखने की बुद्धि होनी चाहिये, वहाँ भी यह मस्तिष्क दूसरो मे घूमता है। ऐसे जीव का कल्याण निकट भविष्य मे सभव नही है। ऐसे जीव का कल्याण हो, बहुत मुश्किल है। बहुत मुश्किल है। मुश्किल क्यो है? क्योंकि अभी तो उसे श्रवण की रुचि ही नही है, श्रवण के बाद स्वयं-से-स्वय-के परिणामो से जुडने की रुचि ही नही है। कैसे बदलेगा? कैसे बदलेगा? नही बदलेगा तो बिना धर्म का लाभ प्राप्त किये ही जैसे अनन्त काल से जीवन जीते-जीते बदल रहा है, यहाँ भी बदल लेगा।

किसका लाभ? पैसे का लाभ। पुत्र का लाभ। ज्ञानी कहते है—ये सारे लाभ एक दिन तुझे यही छोडकर जाना पडेगा। यदि तूने अपना लाभ स्वीकार नही किया, अपने लाभ को नही समझा। वस्तु का स्वभाव ही धर्म है, इतना-सा लाभ ही यदि तुझे मिल जाए तो तेरी जिन्दगी सार्थक हो जाए। तुझमे सयम आ जाए। सयम इस रूप मे आ जाए कि अज्ञान भाव मे दूसरो के व्यवहार की प्रतिक्रिया भी तू अज्ञान भाव से न करे। यह आत्मलाभ है। यह सयम है। क्रोध की प्रतिक्रिया क्रोध से न करे। मान की प्रतिक्रिया मान से न करे। माया की प्रतिक्रिया माया से न करे। ईर्ष्या की प्रतिक्रिया ईर्ष्या से न करे। यदि किसी ने नुकसान भी पहुँचा दिया, किसी ने घाटे मे भी उतार दिया (यद्यपि निश्चय दृष्टि से कोई किसी को घाटे मे उतारता नही), तो भी समभाव, तो भी शान्ति।

स्थूल दृष्टि, ससार-दृष्टि, शरीर-दृष्टि, प्रपच-दृष्टि मे हम यही मान लेते है कि इसने नुकसान दिया, इसने नुकसान दिया, इसने घाटे मे उतारा, उसने घाटे मे डाला। ज्ञानी कहते है, कोई किसी को घाटा नही पहुँचा सकता। **कुण सुख कुण दु:ख देत है, देत करम झकझोर। उलझे-सुलझे आप ही ध्वजा पवन के जोर।**

मेरे द्वारा ही अशुभ कर्म बांधे गये हैं। शुभ-अशुभ कर्म की फिल्म ही मेरा जिन्दगी में आज दिन सुख दिखाया जा रहा है। आप खिन्न हैं? क्यों हैं? जिस आत्मा ने लाभ होगा उसके विचार सम होंगे। जिस आत्मा का लाभ हो जायगा वह अलाभ करने वाले के प्रति भी लाभ के विचार रखेगा। उसका भी मंगल हो, उसका भी कल्याण हो। भगवान महावीर पर छह महीनों तक संगम देव ने कितने उपसर्ग किये? अनुकूल और प्रतिकूल। जब वह जाने लगा तब उन मार्मिक क्षणों में भी भगवान महावीर को इस बात का मन में विकल्प नहीं आया कि इसने मुझे कितने कष्ट दिये? विकल्प यह आया, विचार यह आया कि मैं निमित्त बना कि इस जीव ने कितने राग-द्वेष के परिणाम किये। जो हो, कहाँ भागेगा यह जीव? कर्म भोगेगा? इसने कितने कर्म बांध लिये?

बाँधते हुए अज्ञानी हंसता है। भोगते हुए अज्ञानी रोता है। किसी को पंचेन्द्रिय शरीर मिल जाता है। परिवार भी अच्छा मिल जाता है। धन वाले परिवार में भी जन्म ले लेता है। कहीं दिखायी देता है कि शरीर है पर चलने की शक्ति नहीं है। कहीं दिखायी देता है कि शरीर पूरा है पर बोलने की ताकत नहीं है!! कहीं सुनने की ताकत नहीं है!! कहीं मस्तिष्क में समझने की ताकत नहीं है!! किसी से पूछो तो उत्तर मिलता है—जन्म से ही ऐसा है। यहाँ तो कुछ भी नहीं किया उसने। कुछ भी नहीं किया। पर सब हुआ क्या? कर्म बाँधते हुए तो हम बड़े होशियार हैं। कभी मजाक के रूप में उपहास के रूप में कभी ज्ञानियों की, कभी तप की, कभी त्याग की, कभी प्रत्याख्यान की। अरे नहीं अलग बात है किन्तु बड़े ज्ञानी की निन्दा करना, ज्ञानी की निन्दा करना, ज्ञान के साधनों की निन्दा करना, त्याग की निन्दा करना, त्याग का मजाक करना, तपस्या का मजाक करना कहाँ तक उचित है? हो सकता है कि आप विज्ञान युग में जन्मे हो, हो सकता है आपको शिक्षा बहुत अधिक हो। हो सकता है आपमें श्रद्धा का अभाव है और श्रद्धा के बिना शिक्षा धार्मिक अनुष्ठानों का मजाक बनाने की तथा परिस्थिति पैदा करे। सत्य है, परन्तु यह मजाक कहाँ तक अपने आप को ले डूबेगा। किसी और का नहीं स्वयं का। जो ज्ञानी की अशातना करता है ज्ञान की अशातना करता है ज्ञान के निमित्तों की अशातना करता है उसे अगले जनम में आवाज नहीं मिलती। बोलने की शक्ति नहीं मिलती। और तो इतना शक्ति मिलती है और बुद्धि मस्तिष्क ज्ञान विकसित मिलता है इसका बात का ध्यान रखिये। श्रद्धा के अभाव में शिक्षा का दुरुपयोग करते हैं। नामानुसार क्या-क्या बातें करते हैं, पर ज्ञानी कहते हैं—बहुत मुश्किल होगा, बहुत मुश्किल होगा। जिसकी आवाज नहीं मिली उससे पूछो कि न बोलना बर्दाश्त करना कितना मुश्किल है? मन के भाव मन में दबाये रहते हैं। इस बात को यानत देर

रहा है। सबको मिलते देख रहा है। अपने मन के भाव व्यक्त करते देख रहा है, पर उसके पास वह ताकत नही है कि बोले। पाँच इन्द्रियो मे से एक इन्द्रिय भी अनुपस्थित, या अव्यवस्थित हो गयी तो उसकी जिन्दगी मिली नही मिली बराबर हो गयी है। जरा उससे पूछो कि भाई बोलने का मूल्य कितना है? हमे एक शक्ति मिल गयी, किन्तु हमने शक्ति का मूल्याकन नही किया। शक्ति का दुरुपयोग किया। स्वच्छन्दता से, उच्छृखलता से, अनुशासनहीनता से, सस्कृति और सस्कारो के प्रति हमारे मन मे आदर भाव न होने से।

बहुत महँगा पडेगा यह सौदा, बहुत महँगा पडेगा यह व्यापार, कब? जब यह कर्म लेने आयेगे। पर आश्चर्य इस बात का है कि उस समय मालूम नही होगा कि कौन से कर्म का प्रतिफल यह है? क्योकि यह पचम काल है। इस पचम काल मे प्रत्यक्ष ज्ञानी नही है। ब्रह्मज्ञानी, केवलज्ञानी नही, श्रुत ज्ञानी नही, अवधि ज्ञानी नही, मन पर्यय ज्ञानी नही। यदि हमारे मन मे सशय भी उत्पन्न हो तो सशय का कोई निराकरण करने वाला भी नही है। फिर भी कर्म का फल हमे बता रहा है कि कही-न-कही जीवन मे गलती हुई है। आज ऐसे लोग है, जिन्हे ज्ञान का शिक्षण बहुत है। जिन्होने कई डिग्रियाँ (उपलब्धियाँ) अपने मस्तिष्क के प्रशिक्षण मे बटोर ली है। वही उनका मापदण्ड है। वह उनके सोचने-समझने का ढग है। वे स्वय को नामालूम क्या समझते है? किन्तु अल्पता मे अधिकता का आभास भी अज्ञानता है। व्यक्ति को जो भी मिला है, अपने-आप मे वह बिन्दु है और जो नही मिल सका है वह सिन्धु है। जब सिन्धु जितना खजाना पा गये तो बिन्दु जितना ज्ञान पा कर क्या 'अहम्' करना, क्या इतराना, और क्या बाल-की-खाल निकालना? अपनी बुद्धि को प्रमाणित करने के लिए हजारो की बुद्धि को नकाराना यह ज्ञानियो की जबर्दस्त अशातना है। पर नही समझ आती, नही समझ आती। अज्ञान भाव मे जीव नही समझता। ऐसे ही तो बाँधता है। कैसे बाँधेगा? इस जीव को यदि यह विवेक आ जाए कि कषाय भाव ही अलाभ है। राग-द्वेष के परिणाम ही अलाभ है। अहम् भाव ही अलाभ है, तो फिर पाने को रह ही क्या जाएगा? सब कुछ स्वयमेव होता जाएगा। यदि आप त्याग करते है, तप करते है, दान देते है तो फिर उसका अहम् क्यो करते है? उसमे भी मन मे उछल-कूद नही होनी चाहिये। अरे, क्या दे दिया और क्या ले लिया? देने को रखा क्या है? ससार मे नामालूम कितने माई-के-लाल जनम गये। कितनो ही ने हजारो की गरीबी दूर कर दी। कितनो ही ने लाखो को रोटी दे दी? एक नही अनेक। भारतीय परम्परा मे ऐसे लोगो की कमी नही रही है। जगडूशा, खेमादेदराणी थे वे लोग जिन्होने एक ही जीवन-काल मे नमालूम कितने काम किये। आज भी, वर्तमान मे भी, इसी शहर मे, कहना पडेगा कि सेठ हुकमचन्द ने अपने वैभव का धार्मिक स्थानो के लिए कितना उपयोग किया। जगत् मे एक-से-एक बढ कर लोग है। व्यक्ति को जो भी शक्ति उपलब्ध है उसे उसका कभी अहम् नही होना चाहिये।

मैं क्या हूँ? मुझमें क्या ताकत है? क्या सोच-समझ है? ज्ञान का कुछ भी तो नहीं है। ऐसे ऐसे विद्वान् हैं संसार में जो एक एक शब्द की गम्भीरता में आपको इतना ले जाएँ इतना ले जाएँ कि एक महीने तक उनका वक्तव्य ही पूरा न हो। ऐसे ऐसे विद्वान हैं। वाक्य-व्यवस्था, जिनका वाग्प्रवाह देखते बनता है। अपने से अधिक को जो नजर में रखता है उसे अपनी शक्ति का कभी अहम नहीं होता। यदि आप त्याग भी करते हैं, तो भी, ध्यान रखिये, आप से अधिक त्यागी संसार में अनेक हैं। त्याग करना अलग चीज है और त्याग का अहम होना बिलकुल अलग चीज है। हो सकता है कोई मुनि उत्कृष्ट त्यागी है और वह अपने-आप में त्यागी है। दुनिया की दृष्टि में वह महान है। दूसरों के लिए अनुमोदना का कारण है। जो ऐसे ऐसे तपस्वी हैं उनके लिए प्रेरणा देने वाला है किन्तु यदि त्यागी स्वयं कहे कि मैं ऊँचा और दूसरे नीचे तो त्याग है पर वास्तव में वह है नहीं क्योंकि उसमें त्याग का अहम् है। त्याग और त्याग का अहम् दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। शायद वह त्याग भी अहम के लिए ही है। मान लीजिये आप धनवान हैं और आप में प्लेन में उड़ने की शक्ति है। आप प्लेन की सवारी कर रहे हैं। दूसरा व्यक्ति ट्रेन की सवारी कर रहा है। तीसरा व्यक्ति बस की सवारी कर रहा है। चौथा साइकिल पर सवार है और हम जैसे पैदल भी चल रहे हैं। यदि प्लेन में उड़ने वाला बस में चलने वाले की ट्रेन में चलने वाले की बाइसिकिल पर चलने वाले की मजाक बनाता है तो निश्चित रूप से उसे अपने साधन का अहम है। हाँ दूसरे लोग कहेंगे कि भाई शक्ति-सम्पन्न आदमी है इसलिए प्लेन में जा रहा है। दूसरों का कहना तो ठीक है किन्तु प्लेन में बैठने वाला यदि दूसरों का उपहास करे मजाक करे उन्हें कमजोर और स्वयं को अधिक माने तो ज्ञानियों की दृष्टि में वह ज्ञानी नहीं है। ज्ञानियों की दृष्टि में वह तपस्वी नहीं है क्योंकि तप का क्या अहम्?

खाना शरीर का धर्म है। आत्मा अरूपी है। जब आत्मा को आत्मधर्म का लाभ हो जायेगा जब आत्मा अपने स्वरूप को समझने लगी तब विचार आयेगा—ओ हो अनन्त काल से शरीर के संयोग में मैं आये दिन आहार ले रहा हूँ जबकि मेरी आत्मा का धर्म तो आहार लेना है ही नहीं। यह तो शरीर की आवश्यकता है। यह तो शरीर की पूर्ति है। पेट्रोल कार के लिए जरूरी है। ड्राइवर कहाँ पीता है पेट्रोल? मेरी आत्मा का स्वभाव अनाहारी है। यदि मैंने तप किया तो अनाहारी पद की आराधना के लिए मैंने एक सामान्य प्रारम्भिक क्रिया की है इससे अधिक किया क्या है मैंने? यदि कोई दस-चार पदार्थ लेकर जिन्दगी जाता है और वह विचार करता है कि मैं तो दिन में दो ही द्रव्य खाता हूँ। चार ही द्रव्य खाता हूँ। दस ही द्रव्य खाता हूँ। कम करना तो वहाँ बहुत अच्छा है। पर मैंने कम कर दिया इसका बोध

यदि मस्तिष्क मे बढ गया और दुनिया को यही बताने की कोशिश की तो उसमे तो दस खा लेना ज्यादा अच्छा है, क्योंकि त्याग, त्याग के लिए ही होना चाहिये दिखाने के लिए नही। त्याग अपनी रसना इन्द्रिय के निग्रह के लिए होना चाहिये। त्याग आत्मशुद्धि के लिए होना चाहिये। त्याग प्रशंसा कराने के लिए नहीं होना चाहिये। वह स्थिति तो कहीं-न-कहीं जा कर गडबड है।

हमे अपनी स्थिति को सुधारना है। किसी को नही सुधारना, अपने-आप को सुधारना है। यदि अपने त्याग का अहम् आता है तो विचार करना चाहिये 'ओहो, मैंने आज भी ससार मे क्या रस छोडा है? आज भी ससार मे ऐसे-ऐसे त्यागी, तपस्वी महात्मा है, जो पाँच-पाँच सौ आयम्बिल एक साथ करते है। पाँच सौ आयम्बिल का अर्थ क्या है? 'आयम्बिल' जैन पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है—उबला हुआ धान खाना, उसमे घी, तेल, मिरच-मसाले आदि का सयोग किये बिना, क्योकि मिरच-मसालो के सयोग मे, घी-तेल के योग मे उसमे स्वाद आता है। 'आयम्बिल' का अर्थ है 'अस्वाद तप'। यहाँ एक महिला है, जिसके ९६ दिन मे आयम्बिल चल रहे है। नमक-रहित आयम्बिल वर्द्धमान तप की होगी। एक, दो, तीन, चार, बार-बार पारणा, बारबार आयम्बिल करना। मात्र मूग की दाल उबली हुई और दो तीन लूके फुलके खा लेना। चौबीस घण्टो मे सिर्फ एक बार, वह भी नमक के बिना। बहुत बडी साधना है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस साधना का भी उन्हे अहम् नही आना चाहिये। पर हमे यदि उससे कम त्याग मे अहम् आ रहा है तो इस अहम् को गलाने के लिए ऐसे व्यक्तियो का उदाहरण अपने दिमाग मे रखना चाहिये। हमने क्या किया है? हमने क्या छोडा है? आज मुझे यह विचार आया कि मैंने माँ-बाप को छोड दिया परिवार को छोड दिया। क्या छोड दिया? धन्ना शालिभद्र ने कितना छोडा था? करोडो के वैभव को आँख उठा कर भी नही देखा। सुभद्राजी के एक शब्द पर। जब सुभद्राजी ने धन्नाजी को कहा और कहा भी क्या, उन्होने स्वय पूछा। क्या पूछा कि आज रानियो के बीच धन्नाजी की जो स्नान-क्रिया हो रही थी उसमे उनकी पीठ पर जो गरम-गरम पानी गिरा, तो उनकी आँख ऊँची हो गयी। आँखे ऊँची होते ही उन्होने प्रश्न कर लिया—तुम्हारी आँखो मे पानी क्यो है? मेरे जैसे घर का अनुकूल वातावरण, फिर भी तुम्हारी आँखो मे पानी, क्यो? मैं तुम्हारी आँखो मे पानी बर्दाश्त नही कर सकता। जहाँ स्नेह हो वहाँ आँसू निकल आना बहुत मुश्किल है। वह स्नेह नही स्नेह की विडम्बना है। वह सम्बन्ध है, किन्तु सरस नही है। जहाँ पारिवारिक जीवन मे आये दिन आँसू निकलते है, आये दिन घुट-घुट कर आहे भरनी पडती है, वहाँ स्पष्ट ही शान्ति नही हो सकती।

धन्नाजी ने कहा—सुभद्राजी तुम्हारी आँखों में पानी क्यों? क्या किसी ने तुम्हारी अवज्ञा की है? सुभद्राजी बोली—नहीं नहीं स्वामी ऐसा कोई कारण इस परिवार में थोड़े है हीं नहीं। यह परिवार तो इतना योग्य है इतना सुयोग्य है कि यहाँ तो एक-दूसरे को देख कर मुस्कराहट-सी मुस्कराहट है। कितना अपनापन है? सम्बन्ध कितने मधुर हैं!! दिवाली-ही दिवाली है। होली का काम ही नहीं है। यदि प्रकृति का मेल न हो तो ऐसा भी है परिवार भी है सुन्दरता भी है शिक्षा भी है पर एक प्रकृति न मिले उसका खींचातान होता है। सब मटियामेट हो जाता है। धन्नाजी ने कहा—ऐसा कुछ भी नहीं है इस परिवार में तो। फिर तुम्हारी आँखों में पानी क्या है? स्वामिन्! मेरा वीरा मेरा बन्धु मेरा भाई शालिभद्र जिसके वैभव का कोई माप और ठिकाना नहीं। स्वर्गति में पिता ने प्रसन्न होकर उसको बत्तीस पत्नियों के लिए जो नये जेवर भेजे थे वे निर्माल्य हो जाते थे। आज के युग में तो राष्ट्रपति भी नित नया वस्त्र नहीं पहन सकता। ऐसा नहीं हो सकता कि एक दिन का वस्त्र दूसरे दिन न पहना जाए, किन्तु शालिभद्रजी के यहाँ की ऋद्धि सिद्धि का तो यह उदाहरण है कि जब स्नान के समय मन का त्याग बिना मोह के करते हैं वस्त्र ही रोज दिन नये आभूषणों का त्याग भी करते हैं। नये आभूषण पहिनना और कल के आभूषणों का त्याग ऐसा वैभव छोड़ दिया उन्होंने क्षण भर में छोड़ दिया।

त्याग का सम्बन्ध पदार्थों से नहीं है भावना से है। यदि त्याग भाव आ जाए तो करोड़ों का वैभव छोड़ते भी देर न लगे। त्याग भाव नहीं आए, वैराग्य भाव नहीं आए तो एक कौड़ी में भी मोह उलझ जाए एक तिनके का त्याग भी मुश्किल है। क्या त्याग किया इसने? उन महापुरुषों ने उन सुकुमारों ने कितना त्याग किया? कैसा अलौकिक त्याग किया? उसने कहा कि मेरे भाई एक-एक दिन करके एक-एक पत्नी से बिछुड़ रहे हैं। धन्नाजी को अनुमोदना करनी चाहिए थी पर उनका पुरुषार्थ पता नहीं कैसा जगा जो उन्होंने जवाब में यह कह दिया कि सुभद्राजी सुन तो ऐसा लगता है कि तुम्हारा वीरा, तुम्हारा भाई मन वैरागी हो गया वैरागी हो कर भी उत्कृष्ट वैरागी नहीं है। बत्तीसों रही जो सब अभी वह कायर है इसलिए एक-एक पत्नी का त्याग हो रहा है।

बात चुभ गयी। सुभद्राजी को चुभ गयी। धीहरणार का मन किसी भी नारी का पति का मित्र तो बोल-सा कहना है। और समझदारी बरतने उनसे उन्हें नहीं है। एक-दूसरे का मन किसी को जानना कठिन है। यदि कोई परिवार में सुख शान्ति चाहता है तो उसकी प्रकृति को समझ कर परिवार को प्यार देना चाहिए, अपनापन है। सुभद्राजी को बात लग गयी। सुभद्राजी के मन में भी निश्चय किया कि स्वयं तो माता के भरोसे हैं स्वयं तो समय के बाद है और

मेरा भाई इतने अधिक वैभव का त्याग कर रहा है उसके लिए ऐसे शब्द ! ! ! धन्नाजी को जवाव दिया और जवाव दिया तो ऐसा दिया कि कहना बहुत सहज है, करना, किन्तु, बहुत मुश्किल है। सुभद्राजी ने जवाव दे दिया। स्वामिन्! कहना ही सहज है, करना बहुत मुश्किल है। त्यागियो की मजाक करना तो सहज है, किन्तु एक दिन का रात्रि-भोजन त्याग मुश्किल है। एक दिन रात्रि का पानी त्यागना भी मुश्किल है। जैन जाति से हो, कुल-परम्परा से हो, किन्तु आचार मे एक नवकारसी की पचक्खान करने वाले कितने है? साधु बनने वाला सौ पचक्खान लेता है एक साथ। जाति से जैन हो कुल से जैन हो, किन्तु सूर्योदय से अडतालीस मिनिट तक एक छोटा-से-छोटा पचक्खान करने वाले कितने है?

कहना बहुत सहज है। दूसरो के त्याग का उपहास करना बहुत सहज है। दूसरो के त्याग को नगण्य मानना बहुत सहज है। मालूम तब पडे जब स्वयं त्याग करे त्याग को जीवन मे साकार करे। सुभद्राजी ने कहा कि स्वामिन् करो तो मालूम पडे। पर उनका पुरुषार्थ ऐसा जगा, ऐसा जगा, ऐसा जगा कि उसी क्षण उठ गये और कहने लगे—यह चला, यह चला, यह चला, यह चला। करोडो के वैभव को आँख उठाकर नही देखा। आठ पत्नियो के आँसुओ को क्षण-भर के लिए घूम कर नही देखा। और जब सात दूसरी पत्नियो ने रोकने का प्रयत्न किया, विनय की, क्षमा-याचना की और कहा कि सुभद्राजी की गलती है। हम सात ने क्या बिगाडा है? धन्नाजी ने कहा कि सुभद्राजी की गलती नही है। सुभद्राजी ने तो मुझ पर उपकार किया है। वे परम उपकारी है। अभी तक मेरी पत्नी थी। अब मेरी गुरु हो गयी वे। अब तो गुरु के भाव से मैं उनको नमन करूँगा कि जिसने मेरी आत्मा को जगा दिया। मेरी सोयी हुई आत्मा को जगा दिया। अनादि से पुद्गल के लाभ को मैं अपना लाभ मान रहा था। अनन्तकाल से परिवार के लाभ को मैं अपना लाभ मान रहा था। अनन्त-काल से सासारिक वैभव को मैं अपना लाभ मान रहा था। आज तक, आत्म-धर्म का क्या लाभ है, इसे मैंने समझा ही नही था और समझे बिना ही जीवन जी रहा था, इसलिए मैं उनका कृतज्ञ हुआ। इसे कहते है सम्यक् धर्मलाभ।

□□

—इन्दौर 24-12-1982

११. जययात्रा

द्रव्य दया, भाव दया, स्व दया, पर दया से सम्बन्धित कुछ आंशिक चर्चा मैंने की है। प्रमाद-सहित प्राणों की हिंसा, द्रव्य हिंसा है। जहाँ द्रव्य हिंसा है उसे करने के भाव हैं वहाँ भाव हिंसा हो ही जाती है, क्योंकि भाव हिंसा के बिना द्रव्य हिंसा सम्भव नहीं है। हो सकता है किसी के मन में हिंसा का विकल्प उठ जाए तो [illegible] है प्रमाद-सहित । 'प्रमाद' शब्द के अन्तर्गत कई भाव आ जाते हैं।

प्रमाद एक पारिभाषिक शब्द है जैन परम्परा का। प्रमाद के अन्तर्गत पाँच इन्द्रियों के विषय के अधीन होकर जो किसी की हिंसा करे वह हिंसा है। क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत होकर स्व प्राण या पर प्राण की हिंसा हिंसा है। चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ, चार विकथाएँ—राज, देश, भोग, भोजन, प्रणय और निद्रा इन सारे भावों के अन्तर्गत जिसने स्व प्राण की और पर प्राण की हिंसा की उसी के लिए संक्षिप्त शब्द दे दिया प्रमाद से प्राणों का व्यतिपात । इन भावों के अतिरिक्त किसी अन्य भाव से व्यक्ति किसी के प्राणों की हिंसा करे ऐसा हो नहीं सकता। स्व प्राण या पर प्राण की हिंसा में निश्चित रूप से इन पन्द्रह में से कोई-न-कोई विकल्प मन में रहता ही है। कोई-न-कोई भाव मन में रहता है। हो सकता है कि इन पन्द्रह निमित्तों में से किसी निमित्त के अधीन होकर किसी की हिंसा करने का प्रयत्न करें। सामने वाले की हिंसा हो या न हो, अलग बात है किन्तु हिंसा के भाव आना ही स्व हिंसा है क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष कोई-न-कोई भाव आये बिना किसी का नुकसान करें आत्मा में ऐसे परिणाम आयेंगे नहीं और आत्मा में ऐसे परिणामों का आना यही स्व हिंसा है इसलिए स्व हिंसा के बिना पर हिंसा होती नहीं है।

माचिस पहले स्वयं जलती है फिर लकड़ी को जलाती है फिर सिगरेट को जलाती है बीड़ी सुलगाती है। वह किसी को भी जलायेगी किन्तु खुद जले बिना नहीं। पहले स्वयं जलेगी फिर दूसरे को जलायेगी। किसी का नुकसान करने का भाव, किसी को अशान्ति पहुँचाने का भाव, किसी की मानहानि करने का भाव किसी की

धर्म-भावना को ठेस पहुँचाने का भाव निश्चित रूप से स्व-हिंसा है। स्व-हिंसा के बिना पर-हिंसा होती नहीं और स्व-हिंसा के बिना जो पर-हिंसा है उसमें पर-हिंसा का पाप उतना नहीं है जैसे एक डॉक्टर है जो रोगी का रोग से मुक्त करने के लिए ऑपरेशन कर रहा है। वह सब कुछ सावधानी से कर रहा है विवेक से कर रहा है, फिर भी कहीं-न-कहीं कोई-न-कोई योग ऐसा बना कि मरीज मर गया। द्रव्य-हिंसा तो हो गयी, उसके प्राणों की हिंसा तो हो गयी, किन्तु प्राणों की हिंसा का पाप नहीं लगेगा, क्यों नहीं लगेगा? इसलिए कि उसकी अंगुलियों में प्राणों को नुकसान करने का विचार नहीं था, फायदा पहुँचाने का संकल्प था। जब भी वह भाव हिंसा के बिना द्रव्य हिंसा होगी तो वह इस प्रकार ही होगी। बचाने के भावों में यदि किसी के प्राण निकल जाएँ तो वहाँ द्रव्य-हिंसा है, किन्तु भाव हिंसा नहीं है, किन्तु प्रमाद-सहित जहाँ प्राणों का नाश है, प्राणों को पीड़ा पहुँचाना है, तकलीफ पहुँचाना है, उसमें मानसिक, वाचिक, कायिक तीनों योगों की प्रवृत्ति का होना हिंसा है, स्व-हिंसा है, पर-हिंसा है। और जहाँ स्व-हिंसा है, पर-हिंसा है, वहाँ उत्कृष्ट धर्म की आराधना असंभव है। सर्वथा अहिंसक हो जाए, यह भी बहुत मुश्किल है। विकास क्रमवर्ती ही होगा। क्रम से ही चढ़ना होगा, किन्तु यथार्थ तो उसकी दृष्टि में आ जाए। यथार्थ का उसका निर्णय तो हो जाए।

दूसरा शब्द है—'संयम'। अहिंसा और संयम तप हैं। 'संयम' शब्द की व्याख्या कई प्रकार से हो सकती है। पाँच महाव्रत बारह अणुव्रत, सब-के-सब इसके अन्तर्गत हैं। और भी कई पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से इसकी व्याख्या हो सकती है किन्तु हम सामान्य शब्दों में ही व्याख्या करने की दृष्टि रखते हैं, क्योंकि पारिभाषिक शब्दावली का अर्थ समझना प्रायः कठिन हो जाता है। 'संयम' में दो शब्द हैं—सम् और यम। सम्, यम से संयम बना है। सम् का अर्थ 'सम्यक्' है। संयम का अर्थ है—स्वयं का स्वयं द्वारा अनुशासित रहना, या स्वयं-पर-स्वयं-का-नियमन।

आज तक संसार में जितने भी महापुरुष बने, चाहे वे राम हों, चाहे महावीर, चाहे कोई और हो (नाम अनेक हो सकते हैं, कालभेद भी संभव है); वे बने हैं, उसी स्थिति में जब उन्होंने स्वयं को अनुशासित किया है। निश्चित रूप से पहले उन्होंने स्वयं पर अनुशासन किया। स्वयं के, स्वयं से अनुशासित होने की साधना का नाम संयम है। स्वयं-से-स्वयं अनुशासित हो, स्वयं स्वयं का अनुशासन करे, स्वयं स्वयं का अनुशासक बने, यह बहुत मुश्किल है। दूसरों का अनुशासक बनना बड़ी बात नहीं है, दूसरों को मार्गदर्शन देना भी बड़ी बात नहीं, दूसरों का मास्टर बनना भी बड़ी बात नहीं, वकील बनना भी बड़ी बात नहीं, किसी को जजमेन्ट देना भी बड़ी बात नहीं, किन्तु स्वयं अपनी आत्मा के कषाय भावों में तटस्थ वृत्ति रख कर निर्णयात्मक दृष्टिकोण से स्वयं के भावों को बदलने का प्रयास

करना बड़ी बात है। यही संयम है। संयम स्वयं स्फूर्त होता है, किसी का थोपा नहीं होता। जो किसी के द्वारा होता है वह दमन होता है, संयम नहीं होता।

दमन और संयम में बहुत अन्तर है। संयम में मन की स्वीकृति है। दमन में विवशता है, लाचारी है। उसमें किसी के द्वारा दबाया जाता है। जब कोई किसी के द्वारा दबता है तो वह संयम नहीं है, वह दमन है क्योंकि दमन में दुःख होता है और संयम में सुख। इस जीव ने अनन्त काल में दमन की अवस्थाओं को बहुत बार भोगा है। दमन की अवस्थाओं में से यह अनेक बार गुजरा है। दमन कहाँ नहीं होता? दमन किसका नहीं होता? अनन्त काल से यह आत्मा, यह जीव, यह व्यक्ति विशेष जो कुछ भी हम देख रहे हैं अनन्तकाल से संसार में है। नरक गति में दमन कम नहीं है। वहाँ शरीर है जो कट भी जाए, बिखर भी जाए, मिल भी जाए और अलग भी हो जाए। परमाधर्मियों के द्वारा यह वेदना कम नहीं दी जाती। यह वेदना दमन है, संयम नहीं। इसमें दुःख है सुख नहीं, क्योंकि वहाँ पराधीनता है, विवशता है, लाचारी है।

तिर्यंच गति में दमन कम नहीं है। वहाँ कितना दमन है? हर समय दबे हुए रहना, हर समय किसी के अधीन रहना। मन का तो कोई महत्त्व ही नहीं है। मन की कोई कीमत ही नहीं है। मन क्या चाहता है कोई सोचता ही नहीं है। एक कृषक जिस बैल को खेती के काम में ले रहा है क्या बैल के मन के महत्त्व को वह समझता है? क्या उसके मन को वह महत्त्व देता है? कोई दयालु हो, करुणावान हो, जिसने अपनी आत्मा के समान अन्य की आत्मा को समझा है ऐसा व्यक्ति जरूर थोड़ा बहुत दया उस पर लायेगा, फिर भी जहाँ स्वार्थ है स्वार्थ के वशीभूत व्यक्ति हो जाता है वहाँ दया भी कमजोर पड़ जाती है। जहाँ यह दृष्टि रहता है कि ज्यादा-से-ज्यादा काम लेना है वहाँ उत्पीड़न होगा, शोषण होगा, दमन होगा, दया नहीं रहेगा। बैल चाहता है मुझे अब कुछ विश्राम मिल जाए, बहुत समय हो गया घूमते घूमते। चक्कर भी आने लगे तो आँखों पर उसके पट्टा बाँध दिया है। पाँव भी थक गए हैं किन्तु दमन है, बहुत दबाव है। जैसा-कहे-वैसा करना पड़ता है नहीं तो और मार पड़े। इस जीव ने न मालूम कितनी बार इस प्रकार की अवस्थाओं में अपने आप को रखा है क्योंकि अनन्त काल से जो संसार में है तो चार गतियों में से किसी एक गति में तो वह रह ही रहा है। कर्म रहित आत्मा सिद्धालय में रहेगी और कर्म-सहित आत्मा संसार में। संसार में रहेगा तो चार गतियों में किसी एक गति में रहेगा ही। चार गतियों में से किसी एक में जब आत्मा है और यदि उसे सम्यक् बोध नहीं है तो यह कभी भी संयम नहीं कर सकता, क्योंकि लाचारियों में से तो इसे सदा गुजरना ही पड़ता है।

एक दूसरा उदाहरण हैं पशु-पक्षियों के, कान का छेदना, नाक का छेदना, पाँव में नाल आदि गाढ़ना, समय पर भोजन का न मिलना, समय पर पानी का न मिलना

वर्षा मे अनुकूल जगह न मिलना, गरमी मे कडी धूप सहन करना प्यास सहन करना, ज़रूरत से ज्यादा जगह न मिलना, गरमी मे कडी धूप सहन करना, प्यास सहन करना, ज़रूरत से ज्यादा परिश्रम करना, रात को नीद नही, बारह-एक बजे, दो बजे ही उन्हे वहाँ से रवाना कर देते हे। गाड़ीवान स्वय भी रवाना होता है, किन्तु उसे तो वजन ढोना पडता है, चलना पडता हे। गाडीवान तो लेट भी सकता है, पर उन्हे तो चलते ही रहना पडता हे। निन्द्रा के समय निंद्र नही, भोजन के समय भोजन नही, पानी के समय पानी नही, गरमी के समय छाँव का स्थान नही, सर्दी के समय बन्द मकान नही और वर्षा के समय मे कोई झोपडी नही। ऐसी स्थिति मे इस आत्मा ने पाँचो इन्द्रियो के दमन का अनुभव कम नही किया; क्योकि उसमे दु खी हुआ किन्तु दु ख को व्यक्त करे, ऐसे निमित्त नही, ऐसे साधन नही, ऐसी सुविधा नही। आवाज़ है, बोलने की शक्ति है, किन्तु भाषा ऐसी है जिसे मनुष्य नही समझ सकता। समझे भी तो करुणा कौन करे, दया कौन करे ? जहाँ स्वार्थ और मोह, दो मे से एक भी व्यक्ति को सधे तो बात अलग है, नही तो कौन किस की दया करता है ? दमन-उत्पीडन तिर्यंच गति मे जीव ने बहुत सहन किया है। दमन की अवस्थाओ मे से वह बहुत गुज़रा है।

मनुष्य ज़िन्दगी मे भी दमन-शोषण कम नही हे। दमन मनुष्य-ज़िन्दगी मे भी बहुत है। नामालूम न चाहते हुए भी व्यक्ति को कितना कुछ करना पडता हे। कभी वह ऋतु के अधीन है, कभी नियमो के अधीन है, कभी व्यवस्था के अधीन है, कभी पैसे की कमी के अधीन हे। नामालूम कितने बन्धन है ? इन सारे बन्धनो से वह हमेशा अपने-आप को दमित अनुभव करता है; किन्तु इस दमन का कोई लाभ नही है। इससे कर्म-बन्धन ही है, क्योकि परिणामो मे अशान्ति हे। परिणामो मे सक्लेश है। परिणामो मे वेदना है, दु.ख हे, मजबूरी है, लाचारी है, विवशता है। हाथ मे काम है और आँख मे आँसू है। आँसू अपने-आप मे दमन की अवस्था हे। दमन हे, दबाव का प्रतिफल है। दबाव मे दु ख है और दु ख मे सक्लेश है और सक्लेश के परिणामो मे आर्त्त और रौद्र ध्यान है और आर्त्त-रौद्र ध्यान फिर नरक-तिर्यंच की गतियो से व्यक्ति को जोडते है।

दमन से यदि व्यक्ति बच सकता है तो वह सयम के द्वारा ही बच सकता है, क्योकि सयम मे मन की प्रसन्नता है। सयम मे मन का निग्रह है। सयम पाँचो इन्द्रियो का है, पर ताडना से नही, तर्जना से नही, किसी के कहे से नही, लाचारी से नही, विवशता से नही। 'सम्यक्, शब्द भी इसी का प्रतीक है। जिसने जाना, जिसने स्वाध्याय के माध्यम से, चिन्तन के माध्यम से, सत्सग के माध्यम से, ईश्वर की आराधना और भक्ति के माध्यम से जाना कि इस जीव ने सम्यक् ज्ञान के बिना ही ससार मे परिभ्रमण किया है, सम्यक् ज्ञान के बिना ही इसने विषय और विकारो

में सदा-सदा अपने आपको लिप्त रखा है, विषय विकार ही संसार भाव है। विषय विकार की निवृत्ति ही मोक्ष है। विषय विकार की निवृत्ति किसी के कहने से नहीं, उसे जब यथार्थ बोध हो जाएगा सम्यक् दर्शन हो जाएगा सम्यक् ज्ञान हो जाएगा तब उसके स्वयं के मन की स्वीकृति होगी। स्वयं के मन की स्वीकृति से जो त्याग है, तप है वही संयम है। संयम कोई किसी के कहने से नहीं कर सकता। किसी के कहने से दमन हो सकता है संयम नहीं हो सकता। यदि दबाव से, लाचारी से, विवशता से कर भी लिया तो कितने दिन? कितने दिन वह टिकेगा? दमन भी इंद्रियों का करता है व्यक्ति कब? स्वार्थ के अधीन होकर मोह के अधीन होकर। नहीं करता ऐसी बात नहीं है। पर उस करने में यहां न-कहीं कोई प्रलोभन है। कहीं न कहीं कोई आकर्षण है। कहीं न-कहीं कोई लालसा है। कहीं-न कहीं कुछ पाने का भाव है। शरीर के मोह से भी रसना इन्द्रिय का निग्रह करता है जीव। करता है, कई बार करना पड़ता है। किसी को घी छोड़ना पड़ता है किसी को तेल छोड़ना पड़ता है। किसी को आलू बैंगन छोड़ना पड़ता है शक्कर छोड़नी पड़ती है इसलिए कि डाक्टर ने कह दिया कि तुम्हें डायबिटीज है। छोड़ता है। शरीर के लिए शरीर रसना इन्द्रिय का निग्रह तो कर रहा है पर क्या कर रहा है? सम्यक् बोध है उसे? सम्यक् बोध यहाँ कुछ और है। यहाँ तो शरीर की बात है। शरीर के लिए यह निग्रह है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए ही किसी एक इन्द्रिय पर अनुशासन कर रहा है किन्तु अनुशासन में सम्यक् बोध नहीं है। अनुशासन में त्याग का भाव नहीं है। पाँच इन्द्रियों के विषय से संसार बनता है यह तथ्य यहाँ नहीं है। फिर यह क्या है? त्याग तो है, किन्तु त्याग होकर भी वह त्याग नहीं है, क्योंकि वह यथार्थ नहीं है सम्यक् नहीं है। सम्यक् का अर्थ है—जिसको जड़ चेतन का भेद विज्ञान हो गया है और आत्मशुद्धि के लिए जो क्रिया कर रहा है वह सम्यक् संयम है।

सम्यक् शब्द जहाँ कहीं भी लगेगा, आत्मशुद्धि के लिए लगेगा। आत्मशुद्धि की आकांक्षा है। आत्मविशुद्धि की अभिलाषा है। संसार से मुक्त होने की कामना है। उसमें भी विषय विकारों की निवृत्ति करने का विशेष भाव है। इन्द्रिय निग्रह इन्द्रिय निग्रह के लिए नहीं है कषाय निग्रह के लिए इन्द्रिय निग्रह है। कषाय विजय के लिए इन्द्रिय विजय है। यदि कषाय-विजय का लक्ष्य नहीं है तो इन्द्रिय विजय अपने आप में अधूरी है। उसे इन्द्रिय विजय नहीं कहेंगे वह तो दमन हो है। कषाय विजय के लिए ही इन्द्रिय विजय है। केवल इन्द्रिय विजय की बात तो की कि डॉक्टर ने मना किया इसलिए घी भी नहीं नमक भी नहीं कुछ भी नहीं। बहुधा को जब अच्छा-अच्छे किलो वजन हो जाए और उन्हें उसे कम करना हो तो सब कुछ त्याग कर देते हैं। एक व्यक्ति कहता है महाराज इस वर्ष मैंने दस किलो वजन घटाया, कोई कहता है महाराज मैंने पन्द्रह किलो वजन घटाया। घटाया है। त्याग बहुत किया

है। उवली सब्जी लेता हूँ। केवल हलका-सा फुलका ही लेता हूँ। उसमें भी यह कि शक्कर कम हो ऐसे फल लेता हूँ। कितना विवेकी है, कितना त्याग है? रसना पर कितनी विजय है? ज्ञानी कहते हैं – कह मत देना कि रसना की रसना पर विजय है। यह तो देह की आसक्ति है, देह का ममत्व है। देह के लिए पदार्थों का त्याग है। इसमें आत्मकल्याण का तो प्रश्न ही नही है, क्योंकि आत्मकल्याण का भाव यहाँ है ही नही।

एक शब्द दूँ आपको – यह त्याग किस श्रेणी मे जाएगा – देहासक्ति। त्याग भी देह की आसक्ति है। कोई चिढ मत जाना कि महाराज ने त्याग को देह की आसक्ति वता दिया। विषय की जो पूर्वापर व्याख्या है, उसे ध्यान मे रख कर विषय को ध्यान मे लेना। देह-बुद्धि से पदार्थों का जो त्याग है वह जैन दर्शन की दृष्टि मे त्याग नही है। वह आध्यात्मिक दृष्टि से त्याग नही है। वह रसना-विजय की दृष्टि मे त्याग नही है। इन्द्रिय-निग्रह हो कर भी कषाय-विजय के लिए इन्द्रिय-निग्रह नही है।

इस जीव ने मनुष्य-जीवन पा कर दमन तो वहुत किया। वहुत दमन किया, पर दमन कही-न-कही क्रोध के वशीभूत हो कर, लोभ के वशीभूत हो कर, घर छोड कर वहुत वार हुआ है। परिवार का त्याग किया है। परिवार की आसक्ति का त्याग किया है। शारीरिक आसक्ति का त्याग तो हुआ ही है जव कोई कलकत्ता, वम्वई या दूसरी जगह दौडा है तो। कितने लोग कहते हैं कि महाराज यहाँ आये दस वर्ष हो गये और परिवार को तो कुछ ही वर्ष हुए लाया हूँ। कोई कहता है मैं तो वहुत पहले से आ गया, परिवार वहुत वाद मे आया। तो चार-छह महीने, वारह महीने एक वर्ष मे परिवार से अलग रहे। परिवार की, परिवार के साथ रहने की आसक्ति को कही-न-कही तोडा तो है, पर वह टूटी नही है। भावात्मक नही टूटी है। वह मजवूरी है, लाचारी है, क्योंकि परिवार के साथ रहने की जितनी आसक्ति है उससे अधिक धन कमाने की आसक्ति है, इसलिए धन कमाने के भाव से दौड कर गया है। कमाने के लिए परिवार को छोडा है। परिवार मेला है, या मिला हुआ चार दिन का झमेला है। ऐसे कोई भाव नही है उसके। त्याग के भाव नही हैं। त्याग तो किया है, त्याग किया है पर त्याग का भाव नही है।

त्याग करने का भाव जव तक नही है और भाव मे जव तक कषाय-विजय का लक्ष्य नही है तव तक वह महत्त्वहीन और निरर्थक है। त्याग तो नामालूम कितनी वार कितना करता है यह जीव? वहुत करता है। किसी ने मुझ से कहा–'महाराज मुझे सौगन्ध दिला दो।' मैंने कहा–'किस वात की सौगन्ध?' 'मुझे दूध नही पीना है'। 'क्यो नही पीना है?' 'मोटापा वहुत वढ गया है'। तो फिर त्याग ही कर दूँ उसका। यह क्या है? त्याग किया नही है और 'मैने त्याग किया' यह राग और हो गया। यह मोह और हो गया। त्याग के भाव से त्याग नही किया, किन्तु मन मे

भाव किया कि जब खाऊँगा नहीं तो पचक्खान ही क्यों न ले लूँ? इसका अर्थ क्या हुआ? खाना नहीं है इसलिए पचक्खान ले लूँ। क्यों नहीं खाना है? डाक्टर ने मना किया है तो फिर खुले क्यों न हो जाएँ। हो सकता है आपकी बुद्धि में वह त्याग हो, आपकी दृष्टि में वह त्याग हो, आपके सोचने के ढंग में वह त्याग हो किन्तु ज्ञानियों की दृष्टि में वह त्याग नहीं है। क्योंकि आशय क्या है? भाव क्या है? यह भोग लेने का भाव था। भाव की प्रधानता है भाव की मुख्यता है। भाव के आधार पर ही उसका लाभ है। भाव तो हमारे शरीर का स्वरूप बना देगा। तो फिर हम त्याग करके ऐसी मायाचारी क्यों करते हैं? त्याग क्यों करते हैं?

यह तो शुद्ध मायाचारी हो गया। क्रिया तो शरीर के लिए और बताया आत्मा के लिए मायाचारी हो गयी। यह तो चारों ओर मायाचारी हो गया। धोखा हुआ अपनी आत्मा के साथ, गुरुजनों के साथ क्योंकि समस्या नहीं संयम की स्वयं के स्वयं-पर अनुशासन की। किस दृष्टि से? जो आत्मस्वरूप है। उस आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए जो विकारी भाव हैं जो संसारी भाव हैं जिन भावों से आत्मा चार गतियों में चक्कर खा रहा है, उन भावों का त्याग आत्मशुद्धि के लिए प्रयोजनीय है। आत्मशुद्धि के प्रयोजन से जो त्याग है जो नियम है जो संकल्प है वही सम्यक् शब्द की परिधि में आता है। सम्यक् का अर्थ है यहाँ सही। सही माना क्या? शरीर और आत्मा दोनों का भेद-बोध। शरीर अलग आत्मा अलग। शरीरधर्म अलग आत्मधर्म अलग। धर्म संयोगी आत्मा ने आज जो संयोगी का स्वभाव है जो विभाव है जो कषाय भाव है उसे स्वभाव मान लिया है जबकि यह स्वभाव है नहीं। आत्मा का स्वभाव है—सहज शान्ति। आत्मा का स्वभाव है—सहज क्षमा। वह सहज स्वभाव तो उसे प्राप्त हो नहीं है। कभी क्रोध की भाषा कभी लोभ की भाषा कभी मान की भाषा तो कभी माया की भाषा। भाषा तो है किन्तु भाषा में किसी न किसी दुर्भाव का पुट है। सहज भाव नहीं है। संयम करने वाला संयम विशुद्धि के लिए करेगा। कब करेगा? प्रतिक्षण करेगा। किस पर करेगा? किसी पर नहीं स्वयं पर करेगा। स्वयं स्वयं से अनुशासित होगा। क्रोध का निमित्त मिला नहीं और विचार करेगा कि जो सामने वाले ने दो कटु शब्द कह दिए हैं तो इसने अपना ही भाव बिगाड़ा है। उसने अपने ही परिणामों को बिगाड़ा है। परन्तु अपने परिणामों को बिगाड़ कर उसने दो शब्द बोले हैं। यहाँ तक तो मेरा कुछ बिगड़ा नहीं है। मेरा कुछ नहीं बिगड़ा है। प्रायः यही बात समझने की है। जब तक यह बात मेरी समझ में नहीं आयेगी तब तक पर-न्याय-दृष्टि बन जायेगी नहीं, और पर-न्याय दृष्टि जब तक रहेगी तब तक स्वयं के कल्याण करने के भाव जागेंगे नहीं। जिसने मुझे दो शब्द कहे उसने अपनी बुद्धि को बिगाड़ा है अपने भावों को बिगाड़ा है अपने शब्दों को बिगाड़ा है। यहाँ तक मेरा कुछ नहीं बिगड़ा है?

क्योकि ज्ञानी कहते है परिणाम से बन्धन। बन्ध का सम्बन्ध परिणामो से है और परिणाम तेरे बिगडेगे तो बन्ध होगे। तेरे परिणाम नही बिगडेगे तो बन्ध कैसा ? वह स्वय स्वय का अनुशासन करे कि सामने वाले जीव ने तो अज्ञान का परिचय दिया है, सामने वाले ने अविवेक का परिचय दिया है, सामने वाले ने क्रोध का परिचय दिया है, पर उसके परिचय से उसी का नुकसान हुआ है, मेरा कुछ बिगडा नही है। यदि मै अपने परिणामो को सभाल कर रखूँ, तो यह स्वय का अनुशासन है। इसी का नाम आत्मानुशासन है। लोभ का प्रसग आ गया। जहाँ लोभ का प्रसग आया वही आत्मा स्वय, स्वय मे क्या करे ? स्वय का अनुशासन करे कि जीव लोभ के वशीभूत हो कर तूने अनन्त काल तक ससार परिभ्रमण किया है। ओ हो ! इस मनुष्य-जीवन मे तो लोभ, त्याग का प्रसग वही होना चाहिये। यहाँ लोभ का त्याग कर, किन्तु लोभ के त्याग के भाव ही नहीं आते, क्यो नहीं आते ? इसलिए कि लाभ का प्रसग आ बैठता है। लाभ का प्रसग आया नही कि लोभ-वृत्ति ऐसा दबोचती है मानव को कि सत्य, असत्य, उचित अनुचित, धोखा, विश्वासघात, सम्बन्ध, परिचय, मित्रता-सारा विवेक एक ओर रखा रह जाता है। लोभ वृत्ति ही प्रधान हो जाती है।

आप देखेगे जीवन को देखने की यदि दृष्टि है तो सवेरे से शाम तक हमे मालूम पडेगा कि लोभ-वृत्ति के अधीन हम कितनी ही बार कितने ही व्यक्तियो के साथ दुर्व्यवहार करते है। कभी मायाचारी करते है, कभी धोखा देते है, कभी विश्वासघात करते है, कभी अमानत मे खयानत करते है कभी कुछ करते है तो कभी कुछ करते है। लोभ-वृत्ति के अधीन हो कर यदि आप कभी चिन्तन करे और लोभ के स्वरूप को समझते हुए अपने परिणामो पर, अपने आचरण पर, अपनी क्रिया पर कभी दृष्टिपात करे तो लगेगा कि लोभ से खाली कोई कर्म नही है हमारा। एक ठण्डा फुलका जो थाली मे पडा है उसे छोड कर यदि गरम फुलका खाने का भाव आ रहा है तो वह भी उष्णता के लाभ का लोभ है। वह भी क्या है ? लोभ ही है। आज आप एक लडकी के साथ सगाई सम्बन्ध निश्चित करने की स्थिति मे है, किन्तु जहाँ आपको कल एक ऐसा सम्बन्ध मिलने लगा जिसमे और सारी बाते तो वही-की-वही मिल रही है, रग-रूप मे, शिक्षा मे और घर-घराने मे, किन्तु सम्पन्नता मे दस-बीस हजार अधिक मिलने की सभावना है। तो क्या हो जाएगा ? आपकी बात का, आपकी दृष्टि मे ही कोई महत्त्व नही रहेगा कि आपने कल उस व्यक्ति को क्या जवाब दिया था, क्या विश्वास दिलाया था, और आज यह परिवर्तन ? लोभ-वृत्ति की ऐसी महिमा है कि उसके अधीन हो कर व्यक्ति अपने विचारो की पूर्वभूमिका को कुचल देता है। नियमो को कुचल देता है। सत्सग मे सुने हुए वचनो को मसल देता है, क्योकि वह अधीन है, किसके ? लोभ-वृत्ति के। वह स्वय, स्वय से अनुशासित नही है; जो स्वय, स्वय से अनुशासित बनेगा वह स्वय के परिणामो को सँभालेगा और परिणामो को

सम्भालते हुए हर क्षण स्वयं पर ही अनुशासन करेगा। भोजन करने के लिए बैठ गये और कोई चीज अनुकूल नहीं मिली, तो वहां भी स्वयं पर अनुशासन करेगा कि जीव भाव बिगड़ने नहीं चाहिये, और भाव बिगड़ भी गये तो भाषा नहीं बिगड़नी चाहिये। भाव बिगड़ने से तेरा ही नुकसान हुआ है। पर भाषा बिगड़ेगी तो पूरे परिवार का नुकसान होगा। तेरे क्रोध की भाषा दूसरों में भी क्रोध उत्पन्न करने में निमित्त बनेगी। जब स्वयं को दूसरों को निमित्त देना हो तो यह दृष्टि रखो कि मैं किसी को क्यों ऐसा मौका दूं? मेरी भाषा ऐसी क्यों हो? मेरे विचार ऐसे क्यों हों? मेरा व्यवहार ऐसा क्यों हो? कि जिससे मुझे तो अशान्ति हो ही किन्तु मेरे व्यवहार से, मेरी वाणी से दूसरों को भी अशान्ति हो। यह एक दृष्टिकोण है। किन्तु दूसरों की तरफ से जब हमारे प्रतिकूल व्यवहार हो तब वहां भी स्वयं स्वयं पर अनुशासन करे इस दृष्टि से कि इसके बिगाड़ने से मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा। इसके कहने से मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा। मेरे परिणाम बिगड़ेंगे तो ही मेरा बिगड़ेगा। उसको दोष न देना, स्वयं संभल जाना। जब तक हम इस तरह नहीं सोचेंगे तब तक जीवन नहीं बदलेगा। श्रवण से जीवन नहीं बदलता जब तक श्रवण मनन में नहीं बदलता क्योंकि मनन ही मन का परिवर्तन करेगा और मन का परिवर्तन मनन से होगा। मनन श्रवण से होगा स्वाध्याय से भी होगा, सत्संग से भी होगा, वाचन से भी होगा। हम यहां किसी के लिए आ कर नहीं बैठते। हम यहां किसी पर अहसान नहीं करते। न आप किसी पर अहसान करते हैं न मैं किसी पर अहसान करता हूं। मुझे भी स्वयं, स्वयं से अनुशासित होना है। यदि आत्मकल्याण करना है तो आपको भी स्वयं से अनुशासित होना है। अपने-आप को समझाने के लिए ही समझाना है। अपने-आप को सुनाने के लिए ही सुनना है। सुनना है, सुनाना नहीं है। यदि स्वयं उपदेश ग्रहण करने की जरूरत समझते हुए किसी के साथ स्वाध्याय करें तो बुरा नहीं है पर मैं अच्छा और दूसरा बुरा मैं उपदेश देने वाला और ये सब उपदेश सुनने वाले—ऐसा भाव यदि आता है तो वह विषम भाव है वह मिथ्या भाव है वह अहम भाव है। वहां आपका कल्याण आपकी पात्रता से हो तो जाएगा पर मेरा नहीं हो सकता। मेरा पतन हो जाएगा क्योंकि अहम् तो व्यक्ति को गर्त में ही ले जाएगा। आप भी अधूरे मैं भी अधूरा। आपको भी सीखना है मुझे भी सीखना है। स्वयं स्वयं पर जो पूरा अनुशासन कर लेगा वह स्वामी के पद पर चला जाएगा। वह सेवा बन जाएगा। वह तो परमात्म पद प्रकट कर लेगा। परमात्म पद जो प्रकट होगा वह स्वयं की शक्ति का शुद्ध स्वरूप है। वह परिपूर्णता है परन्तु अभी तो हमें उसकी चर्चा ही पूरी समझ में नहीं आती। उसे समझना है। स्वयं को समझना है। संयम किसका नाम है? वह सम्यक मन की स्वाकृति है। सम्यक मन की स्वाकृति के लिए सम्यक बोध चाहिए। सम्यक बोध के लिए भेद विज्ञान चाहिए। भेद विज्ञान के लिए शरीर धर्म अलग और आत्म

धर्म अलग ऐसा विवेक चाहिये। जहाँ ये दो दृष्टियाँ हो जाएँगी, वहीं से संयम चालू हो जाएगा, क्योंकि वह जानता है, वह मानता है कि इन्द्रियों के अधीन हो कर मैंने विषय-विकारों में अनन्तकाल व्यतीत किया, किन्तु बार-बार, जनम-मरण की जंजीर में ही मुझे लटकना पड़ा। जिन निमित्तों को लेकर मैं कषाय करता हूँ वे सारे यहाँ रहेंगे। वह सर्वसंग्रह यहाँ रहेगा। आश्चर्य मात्र इस बात का है कि व्यक्ति कभी स्वयं के लिए नहीं सोचता। जगत् के लिए सोचता है। जगत् के लिए बोलता है। जगत् के लिए लिखता है। जगत के लिए कण्ठाग्र करता है। सुनाने के लिए, पढ़ाने के लिए, सिखाने के लिए, समझाने के लिए यह जीव बहुत कुछ करता है, किन्तु समझने के लिए वह क्या करता है? स्वयं को बदलने के लिए क्या करता है? जो स्वयं को बदलने की क्रिया में लग जाएगा, अध्यात्म-मार्ग में, धर्म-क्रियाओं में जितनी भी विधियाँ हैं, पंच महाव्रत, या पाँच अणुव्रत, तो यह स्वयं, स्वयं से अनुशासित होने की कला है, किन्तु यदि उसे स्वयं, स्वयं से अनुशासित होने का ज्ञान नहीं है, तो समझना चाहिये कि त्याग, तप करते हुए भी कषाय-भाव के त्याग का लक्ष्य उसका नहीं है। यहाँ तो कषाय का त्याग करने के लिए ही इन्द्रिय-निग्रह है।

एक व्रत है, प्रोषधोपवास। उसमें शब्द आया है कि उपवास के साथ पौषध भी करे। पौषध क्यों करे? विषय-कषाय की प्रवृत्तियों से अलग रहने के लिए अपनी आत्मा को पौषधशाला में, स्वयं को पौषध शाला में ले जाएँ। विषय-कषाय के निग्रह के लिए आहार का निग्रह करे। आप कहेंगे ऐसा कैसे होगा? आखिर विषय है कहाँ—पाँचों इन्द्रियों में। इन्हें जितनी अनुकूलता मिलेगी, इनके विषय उतने ही उत्तेजित होंगे। आज तक ऐसा कभी हुआ नहीं कि होम में ईंधन डालते जाएँ, छाणे डालते जाएँ और कहें कि अग्नि तो आपोआप बुझ जाएगी। आज तक ऐसा हुआ नहीं। खाते-खाते किसी का मन ऊब जाएगा, ऐसे ज्ञानी तो बहुत कम मिलते हैं। खाते-खाते मन नहीं ऊबता, किंतु कभी-कभार ज्ञान की कोई बात दिमाग में आ जाती है तो मन ऊबता है। नहीं, मन कहाँ ऊबता है? साठ वर्ष की उम्र के बाद भी रात्रि-भोजन है, साठ वर्ष की उम्र के बाद भी दो समय का भोजन छोड़ने के भाव नहीं है कि अब तो एक ही समय भोजन कर लूँ, रात्रि में भोजन क्यों करूँ? तो महाराज करना पड़ता है, क्योंकि मैं रात को ऑफिस से आता हूँ। दो जून खाते-खाते तो साठ वर्ष हो गये। यदि खाते-खाते छोड़ने के भाव आते तो आ ही जाने चाहिये। यदि खाते-खाते त्याग के भाव आते तो साठ वर्ष के बाद तो प्याज, लहसुन, आलू का त्याग हो ही जाना चाहिये था। खाते-खाते, पहिनते-पहिनते यदि हमारी तृष्णा शान्त हो जाती तो शायद जब से साड़ी, या जो भी पहिनने लगे हैं, जन्मे तभी से वस्त्र का सम्बन्ध है, समझ कर भी पन्द्रह-सोलह वर्ष से आज तक हजार-पाँच सौ की संख्या में तो वस्त्र पहिन ही

लिए होंगे। इतने परिधान पहिनने के बाद तो रंग का आकर्षण खतम हो ही जाना चाहिए। कलर की तृष्णा मिट ही जाना चाहिए। जिनके पास सौ-पचास साड़ियाँ हैं या आपके पास दो, पाँच, दस, पंद्रह, बीस सूट हैं उनके बाद तो बाज़ार में कभी आँख फिसलना ही नहीं चाहिए। उसके बाद तो कुछ और नया न ग्रहण करें, मन में ऐसे भाव आने ही चाहिए क्योंकि खाते-खाते बहुत खा लिया तो अब तो त्याग हो ही जाना चाहिए। पहिनते-पहिनते बहुत पहिन लिया तो अब तो त्याग के भाव आ ही जाने चाहिए।

किंतु ऐसा कभी हुआ नहीं, कभी होगा नहीं। जब कभी भी बदला है ज्ञान और वैराग्य से ही मन बदला है, जिस किसी का भी बदला है वैराग्य से ही बदला है। यदि कोई कहे कि मुझे तो यही निमित्त नहीं मिला उससे पहले ही मेरा मन बदल गया तो निश्चित रूप से यह पूर्व योग की साधना है। वहाँ उसने ज्ञान और वैराग्य से अपने मन को अनुशासित किया होगा इसलिए यहाँ वह अनुशासित है। कहीं न कहीं कुछ किया तो है। स्थिति तो यह है कि सवेरे से लेकर शाम तक पाँच-छह टुकड़े छह-सात सुपारी के खाते जाते हैं। अभी खाते-खाते बेचारे दाँत भी कहने लगे कि भाई तुम्हें पीसते पीसते मैं स्वयं घिस गया हूँ। दाँत कहता है कि सुपारी को पीसते-पीसते मैं घिस गया क्योंकि रोटी खाने में तो दस-पंद्रह मिनिट ही मैं घिसाता हूँ—शाम या सवेरे किंतु सुपारी खाने में तो मेरा घिसाव पूरे दिन होता है इसलिए मैं तो घिसते घिसते छिन गया हूँ छिना ही नहीं खतम हो ही गया है। दाँत घिस गये पर तृष्णा नहीं घिसी इसलिए दाढ़ टूटी तो भी सुपारी नहीं छूटी।

क्या परिणाम है? खाते-खाते वैराग्य कहाँ आया? खाते-खाते तृष्णा का त्याग कहाँ हुआ? शरीर बूढ़ा होता है मन बूढ़ा नहीं होता। ज्ञान और वैराग्य दो से मन एक दिशा को आ गया तो सोलह बीस वर्ष की उम्र में भी वैरागी बन जाएगा। पच्चीस वर्ष की उम्र में भी उस विषय विकार छोड़ने के भाव आ जाएँगे। यदि त्याग के भाव आ गये यदि संस्कार बदल गये यदि वैराग्य आ गया तो। पर आश्चर्य इस बात का है कि जो स्वयं वैराग्य भाव से आते नहीं जो स्वयं इन्द्रियों का निग्रह करते नहीं जो स्वयं अपनी तृष्णा को शांत करते नहीं वे कहते हैं त्याग किया? अभी मान कर किसी परिस्थिति से किसी ने त्याग कर दिया लगता। यदि नहीं तो फिर आप भी कर दीजिए। यदि कोई ऐसा ही त्याग कर सकता है तो उसे कर ही देना चाहिए। फिर तो आपको भी कर लेना चाहिए। हिम्मत करना चाहिए।

जो संयम के स्वरूप को नहीं समझता, जो संयम के भाव में रमण नहीं करता जिसने संयम का महत्व नहीं समझा है वह संयमी बने ऐसे भाव तो नहीं आते किन्तु संयम यदि कोई ले, तो उल्टा वे उसकी मज़ाक बनाते हैं।

संयम याने दमन। मन और संयम। इस आत्मतत्त्व में विषय कषाय से निवृत्ति के लिए संयम के स्वरूप को समझें और स्वयं, स्वयं से अनुशासित हों यही मेरी मंगल कामना है।

□□

—इन्दौर २२ जनवरी १९८२

१२. स्वरूपाचरण

बात सयम से सम्बन्धित हो रही थी। शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली से हट कर 'सयम' की व्याख्या की जा रही थी कि यथार्थ सम्यक् ज्ञान के आधार पर जो स्वय, स्वय पर अनुशासन करता है, स्वय, स्वय का अनुशासक बनता है, सच्चे अर्थो मे वही सयमी है। क्रोध का सयम, मान का सयम, माया का सयम, इन सारे भावो का जो सयम करता है, इन सारे भावो पर जो नियन्त्रण करता है, इन सारे भावो को, मन मे उठने वाले इन विकारो को जो दबाता ही नही वरन् दफना देता है वही पूर्ण सयमी होता है। जिसे स्वरूप-रमणता, स्वरूप की स्थिरता कहा गया है, वही सम्यक् चारित्र्य है।

हमने प्रार्थना मे भी उन्ही को महत्व दिया, उन्ही को नमस्कार किया। किसे? जिन्होने राग-द्वेष कामादि जीते तथा जग को जान लिया है, जिन्होने सब जीवो को मोक्ष-मार्ग का नि.स्पृहता से उपदेश दिया है। किसे नमन किया? करोडो की सम्पत्ति बटोरने वालो को नमस्कार नही किया। किसी दूसरे राष्ट्र पर अधिकार जमाने की भावना से आक्रमण मे विजय पाने वाले को नमस्कार नही किया। नमस्कार सत्ता और सम्पत्ति को नही, नमस्कार सत्ता और सम्पत्ति के मोह को छोडने वालो को है। सत्ता और सम्पत्ति के आधार पर नमस्कार जगत् की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण हो सकता है, किन्तु अमीरी और फकीरी मे जमीन आसमान का अन्तर है। अमीरी बाँधती है, फकीरी मुक्त करती है। पर कब? साधुवेश मे जब साधुता आ जाए। साधुता के बिना साधुवेश भी मुक्ति दे, बहुत मुश्किल है। वह भी चार गति मे से किसी-न-किसी से जोडेगा। साधु-वेश साधुता का विकास करने के लिए बहुत ही अनुकूल वातावरण है। आत्म-साधक के लिए मुनि-जीवन बहुत जरूरी है, बहुत अच्छा है, बहुत ऊँचा है, इसलिए कि अन्य कार्य की प्रवृत्तियो से उसे सर्वथा विश्राम और आत्ममार्ग मे उसकी प्रवृत्ति के लिए अनुकूल वातावरण इसमे मिलता है। यह बहुत जरूरी है। बहुत प्रशस्त भूमिका है। बहुत ऊँची भूमिका है। इसमे कोई दो मत नही है। गृहस्थ की अपेक्षा साधु का जीवन अच्छे-से-अच्छा है, फिर भी बाहर से त्याग, तप, वैराग्य करने के

बाद इस जीवन में आने के बाद यदि वह विषय विकार दफनाने की साधना में प्रयत्नशील नहीं रहा तो ज्ञानियों की दृष्टि में साधुता विकसित नहीं हुई। साधुता जब तक विकसित नहीं होगी तब तक आत्म-कल्याण संभव नहीं है। आप यहीं भी हैं, जहां भी हैं वहीं से हम लक्ष्य बनाना है—साधुता का विकास। जितने-जितने अंशों में साधुता का विकास होगा, उतने-उतने अंशों में संयम होगा।

कल बात चली थी पाँच इन्द्रियों का निग्रह यह भी संयम है। दमन और संयम की बात थी कि पाँच इन्द्रियों का दमन तो अनन्तकाल में बहुत हुआ पर दमन दुःख का कारण बना। दमन आर्त्त ध्यान का कारण बना दमन रौद्र ध्यान का कारण बना क्योंकि सम्यक मन की स्वीकृति नहीं थी लाचारी विवशता थी। संयम का अर्थ है—सम्यक। मन की सम्यक स्वीकृति सावन्समन्न की स्वीकृति। जीवन बनाने की दृष्टि से अपने आपको सब तरफ से हटाया। सब तरफ से हटने के लिए नहीं हटाया अपने आप में जाने के लिए हटाया।

संयम का अर्थ है आत्माभिमुखीन वृत्ति। जो आत्मशुद्धि में निरन्तर प्रयत्नशील है और स्वयं-ही-स्वयं का अनुशासन कर रहा है वह है संयमी। किन पर अनुशासन करे? विकार भावों पर अनुशासन करे। विकार भावों का अनुशासन इसलिए करे कि विकार भाव ही संसार भाव हैं। विकार भाव जब तक रहेंगे तब तक संसार छूटेगा नहीं। कोई संसार से छुड़ा दे बहुत मुश्किल है। डाक्टर दवा दे सकता है आप दवा लेकर आ सकते हैं, किन्तु तब तक भी कोई गरज करने वाली बात नहीं है जब तक गले के नीचे गोली उतर न जाए। सदा-सदा जो अन्तर्मुख वृत्ति रखने का प्रयत्न कर वही तो आत्मार्थी है। कल-परसों में कार्यक्रम में यात्रियों ने फोटो नहीं चित्र लिए गए थे। इस युग की प्रवृत्ति है एक विशेष प्रवृत्ति है हर कार्यक्रम में फोटो खींचने की। कल जब उपाश्रय में वे चित्र आये तब मैंने भी उन्हें देखा व कुछ और बालिकाओं ने भी उन्हें देखा। जब बालिकाएं चित्र देख रही थीं तब वे बता रही थीं कि ये मेरे पापा हैं यह मेरी मम्मी है। इसमें हैं इसमें नहीं हैं। मुझे तुरन्त एक विकल्प आया कि जैसे इस चित्र में अनेकों हैं किन्तु बच्चों की नजर अनेकों पर नहीं एक पर ही है कि मेरी मम्मी कहां है मेरे पापा कहां हैं। सब हैं किन्तु सब को देख कर भी उनको देखने में भाव नहीं हैं। मुझे दूसरे ही क्षण विकल्प आया कि ठीक ऐसे ही आत्मार्थी भले ही संसार में रहे और दुनिया सोचे कि वह संसार में है किन्तु वह सब में रह कर भी अपने में ही रहने का प्रयत्न करे। वह दुनिया में टूटने की कोशिश करे और प्रभु से जुड़ने की कोशिश करे। जब स्वयं स्वयं की दृष्टि में प्रिय वह बन जाएगा तब जगत से टूटने की जरूरत नहीं रहेगा टूट जाएगा वह स्वयं ही। उन बच्चों को यह किसी ने नहीं कहा कि तुम इन्हें मत देखो उन्हें मत देखो, इन्हें मत पहचानो उन्हें मत पहचानो। ऐसा तो

किसी ने नही कहा, किन्तु पहिचानने की जरूरत ही नही, पहिचानने के भाव ही नही। भाव क्यो नही है इसलिए कि हमारा उनसे रागात्मक सम्बन्ध नही है। पहिचानने के भाव उनके प्रति आ रहे है, जिनसे हमारे रागात्मक या द्वेपात्मक सम्बन्ध है। दो मे से एक सम्बन्ध हो, तभी जानने के भाव आते है। जब जीव, जीव की दृष्टि मे प्रिय वन जाएगा स्वय, स्वय की दृष्टि मे महत्त्वपूर्ण वन जाएगा, तव आत्मा को यह विवेक आ जाएगा कि अनन्तकाल से जग-परिचय करके ही मैंने ससार-परिभ्रमण किया है।

जग-परिचय का अर्थ क्या है—रागात्मक सम्बन्ध। जग-परिचय का अर्थ यह नही है कि जितने व्यक्तियो को देखा उतनो से मोह हो जाए। उतने व्यक्तियो से मोह नही होता। परिचय उसी का नाम है जिसके दु ख-सुख से हमारा मन प्रभावित होता है। जिसके दु ख-सुख से हमारा मन प्रभावित नही होता, वह परिचय होकर भी परिचय नही है। उस परिचय की स्मृति नही रहती है, क्यो कि उस परिचय का महत्त्व नही है।

आप सव अपना-अपना घर छोड कर यहाँ आये है और यहाँ आने मे नामालूम कितनी आकृतियाँ रास्ते मे आपको मिली है। कितने लोग रास्ते मे मिले है। कितने रोड आपने वदले है। लक्ष्य उन्हे पहिचानना नही था। लक्ष्य उन मुद्राओ को देखना नही था। आकृति-आकृति को देख कर भी आपने मन से देखा वहुत कम को। वह परिचय नही है, क्योकि स्मरण नही है कि कितने लोग मिले, उनकी कैसी नाके थी, कैसी आँखे थी कैसा रूप था, कैसी वेशभूषा थी? हमारा उनसे कोई सम्बन्ध नही था। उसे परिचय कहेगे क्या? वह कोई परिचय नही है।

परिचय का अर्थ है उस व्यक्ति को जानना जिसके दु ख-सुख से हमारा मन दु खी-सुखी होता है, कव होता है? रागात्मक या द्वेपात्मक सम्बन्धो से। यही परिचय है। सयम का अर्थ है—जगत् का विस्मरण और स्वय का स्मरण। ऐसी स्थिति वताने के लिए, पहले एक स्वच्छ भूमिका वनानी पडती है और भूमिका वनाने मे जहाँ-जहाँ उसका मन फँसा है, जहाँ-जहाँ उसका मत उलझा है, जिन-जिन के विकल्प उसे आते है उन सवसे निवृत्त होने के लिए वह व्रत पचक्खान लेता है। व्रत पचक्खान इसलिए कि उनसे मुझे सम्बन्ध तोडना है। तोडना किसलिये है? इसलिए कि स्वय से जुडा जा सके। स्वय मे स्वय को जव जोडूंगा, तव दूसरो से टूटूंगा। जो तोडेगा नही, वह जोडेगा क्या? मन तो एक ही है, उसे किधर भी जोड दे। मन एक समय मे एक ही क्रिया एक ही भाव कर सकता है, एक समय मे दो भाव नही कर सकता। इसलिए देवचन्द्रजी महाराज ने ऋपभदेव स्वामी

की स्तुति में कह दिया—नाडे होत नाडे रहे। प्रीति अनादिनी विष भरी त रात भी करवा मन भाव। प्रीति शब्द दे दिया। प्रीति शब्द दिया आदि नाम दिया और एक नाम बीच में जोड़ दिया—प्रीति अनादिनी विष भरी। विष शब्द दिया। कैसी विचित्र बात है? जिनके प्रति हमारा स्नेह है उन्हें हम विष देते हैं क्या? नहीं ऐसा तो कभी नहीं करते। तो फिर यह कौन सा विष है? यह विषय का विष है यह मोह का विष है। यह मोह का मन्दिर है। मोह का मन्दिर में हमारा परिचय ज्ञान बनता है। उस परिचय जगत के प्रति मोह के दो पुत्र हैं राग और द्वेष। हमने किसी को राग में पकड़ा है और किसी को द्वेष में किसी का रूप देख कर राग भाव आता है तो किसी को रूप देख कर द्वेष किसी को पाने की इच्छा होती है किसी को छोड़ने की। किसी से मिलने की इच्छा होती है कोई आँखों के सामने है तो उससे अलग होने की इच्छा होती है। यह सब क्या है। यह सब राग-द्वेष की आकृतियाँ हैं। इन भावों के कारण ही जनम-मरण का क्रम चालू है जिसे तोड़ने के लिए यह जीव पहले सत् शास्त्रों के माध्यम से सद्गुरु के माध्यम से, सत्संग के माध्यम से, जिन-मुद्रा के दर्शन के माध्यम से, वीतराग तप के माध्यम से स्वयं के सच्चे स्वरूप को समझने का प्रयास करेगा, जब सम्यक् स्वरूप को समझने का प्रयास यह करेगा तब इसे अहसास होगा कि मैं भले ही अनादि काल से हूँ पर जिस रूप में मैंने आज तक अपने आप को जाना है वह मेरा वास्तविक रूप नहीं है यह कृत्रिम है। यह संयोग सम्बन्ध है। यह बारबार मिलता है बारबार बिछुड़ता है। यह बनता है बदलता है बिगड़ता है।

यह मैं नहीं हूँ मैं तो शाश्वत तत्त्व हूँ मैं सदा रहने वाला तत्त्व हूँ। मैं था हूँ रहूँगा। पर जिनके बीच मैं हूँ न मेरा था न मेरा रहूँगा, हूँ जरूर। जिनके बीच मैं हूँ जिनसे मेरा परिचय है जिन्हें मैंने अपना माना है उनके बीच मैं सदा से था नहीं और सदा रहूँगा नहीं। आज हम जिनके भी बीच हैं आज जिनके बीच हम हैं अर्थात् हमारे मन में जो हैं भगुर हैं वे जिस भवन में साथ रहते हैं क्या सदा से थे? जवाब मिलेगा—नहीं। और कोई कहे—हाँ मैं सदा से हूँ। तो भी कब से? जब से जन्म धरे हैं। तब तक से हैं। उनसे पहले का इतिहास तो याद ही नहीं। आप आज जिनके साथ हैं कब से हैं? बात का उम्र में जो निकटतम सम्बन्ध दर्शित महसूस करता है वह पति-पत्नी का सम्बन्ध है। पर कब से है? या नहीं। जब तक नहीं था। लगभग पच्चीस वर्ष की उम्र तक तो उस आकृति के प्रति कोई विकल्प ही नहीं आया विकल्प नहीं तो सम्बन्ध का प्रश्न ही कहाँ? बीच की उम्र में संयोग हुआ और संयोग में हमारा मोह जैसे ही सम्बन्ध हुआ सम्बन्ध के क्षणों में मोह की अधीनता या स्थिति आए मोह के अधीन हम हो गए। निकटतम स्थिति हो गयी। पर सदा से कभी था नहीं। इस

जन्म मे भी नही। पहले की तो बात ही क्या करे? इस जन्म मे भी अठारह-बीस वर्ष की उम्र के बाद वह सम्पर्क हुआ, सम्बन्ध हुआ, जिसे निकटतम हमने मान लिया है। है, पर क्या सदा रहेगा? है, पर क्या सदा रहेगा? जरा विचार करे। मैं था, मैं हूँ, मै रहूँगा। एक तो हमारी यह अभिव्यक्ति है। मै था, मैं हूँ, मै रहूँगा। पर जिन्हे मैंने 'मै' रूप माना है, मै को छोड कर मैं को नही। मैं को छोडकर जिन्हें मैने मेरा माना है, वे सदा थे नही, सदा रहेंगे नही। केवल वर्तमान मे है। उनका साथ कब छूट जाएगा, हमे पता नही है। साथ छूटने के क्षणो मे उन्हे रोक कर रखने का साहस और शक्ति भी नहीं है। हिम्मत तो इतनी भी नही है कि यदि बुखार आने लगे, दो डिग्री हो जाए तो यह कह दे व्यक्ति कि पाँच डिग्री तो अब मुझे नही होने दूंगा, तो इतनी हिम्मत भी नहीं है। रोक कर रखने की हिम्मत भी नही है। परिस्थिति बदलती है, उसे भी सम्हालने की हिम्मत नही है।

मृत्यु के क्षणो मे प्रिय व्यक्ति कहाँ चाहता है कि मै इन सब से अलग हो जाऊँ? वह कहाँ चाहता है कि यह मेरी सारी हरी-भरी बाडी छोडकर चला जाए? ओह मेरी जिन्दगी-भर का पुरुषार्थ मेरी आँखो के सामने, जिसे मैंने बनाया, जिसे मैंने बनाया, जिसे देख कर मै मुस्कराया, आज सदा-सदा के लिए अलग हो रहा है, सदा-सदा के लिए, फिर भी किसी जीवन-यात्रा मे वह स्मरण भी नही आ सकता, स्मृति भी उसकी नही आ सकती। यदि देह नरक गति मे जाए तो बात अलग है। आज आप यहाँ बैठे है। पिछले जीवन मे भी किसी के साथ रहे होगे। वहाँ भी मकान रहा होगा। वहाँ भी दुकान रही होगी। वहाँ भी परिवार रहा होगा। वहाँ भी सम्बन्ध रहे होगे। वहाँ भी कुछ-न-कुछ छोड कर तो आप आये ही होगे। जीवन रहा, शरीर रहा तो कही-न-कही उसका सम्पर्क भी रहा होगा, सम्बन्ध भी रहा होगा, परिचय भी रहा होगा। पैसा भी रहा होगा। मकान, और दुकान, जो कुछ भी हो, रहा होगा। तिर्यंच गति मे रहे होगे तो कही-न-कही घोसला रहा होगा। कोई पक्षी रहे होगे। कोई पेड आपका रहा होगा। यदि कीडे-मकोडे बने होगे तो कोई बिल रहा होगा। यदि सिंह, हाथी, शेर, चीते बने होगे तो किसी वन की किसी गुफा मे समय गुजारा होगा। यदि पृथ्वी काय के रूप मे रहे होगे तो किसी पहाड की स्थिति मे रहे होगे।

क्या हमे स्मृति है? क्या हमे स्मृति है कि पिछला जीवन हमारा कहाँ था? आज जिन्हे इतना ममत्व दे रहे हो, जिन्हे इतना अपनत्व दे रहे हो, जिन्हे मोह कर रहे हो, इस जन्म मे, उस जन्म मे भी सबके साथ उतना ही रागात्मक सम्बन्ध जोडा होगा। वहाँ भी 'मै, मैं' कर के इतने ही मुस्कराये होगे। पर मृत्यु के क्षणो मे सब बदल गया, सब बदल गया। स्थान बदल गये, पदार्थ बदल गये, सम्बन्ध बदल गये, सयोग बदल गये, शरीर बदल गया, सब बदल गया। सब बदल कर भी

आत्मा वहां-से-यहां आ कर नहीं बदली। आत्मा थी, आत्मा है आत्मा रहेगा। शरीर बना है शरीर बदल रहा है और शरीर ही बिगड़ेगा। एक दिन इसी शरीर को जो लोग शव-यात्रा में शामिल होंगे जब भी कभी आयुष्य कर्म पूरा होगा राख के रूप में भी देखेंगे। वह भी इसकी एक अवस्था होगी। परमाणु नित्य है। स्कंध अनित्य है। यह पुद्गल पिण्ड उस रोज मिट्टी के रूप में रहेगा, पर आज जिस रूप में हमने मैं को माना है क्या वह सदा रहेगा? नहीं रहेगा। क्या पहले था? नहीं था। केवल वर्तमान में है। उस हमने 'मैं' माना। उस ही 'मैं' मानकर हमने राग-द्वेष किया।

सम्बन्ध बदलते हैं सत्ता बदलती है सम्पत्ति बदलती है पर उन सब के निमित्त में जो मोह भाव होता है, जो राग भाव है जो द्वेष भाव है वह राग और द्वेष फिर अगली जिन्दगी की व्यवस्था करते हैं, इसलिए निश्चय-दृष्टा महाराज ने कहा कि अनादिकाल से कर्म-संयोगी आत्मा पर-पदार्थों में, पर-संयोगों में जो राग द्वेष का भाव करता है वहां विष है। उस विष के परिणाम-स्वरूप इसका संसार न टूटा सका है और न टूट पायेगा। टूट कर भी नहीं टूटेगा। छूट कर भी नहीं छूटेगा। छूट कर भी कहां छूटेगा? मृत्यु के क्षणों में छूटता है और जन्म के क्षणों में फिर जुड़ जाता है। प्रीति अनादिनी विषभरी है जो टूटते ही नये सिरे से जोड़ देती है। प्रभु परमात्मा सर्वज्ञ के चरणों में भक्ति कौन करेगा? आत्मसमर्पण कौन करेगा? जो विषय विकारों के विष को पहचान छोड़ने का प्रयत्न करेगा वह। विषय विकारों को जब तक वह समझेगा ही नहीं तब तक छोड़ेगा कैसे? वह क्रोध भाव मान भाव माया भाव लोभ भाव, इनको तो छोड़ना है और किस छोड़ना है? इन्हें छोड़ने के प्रयत्न में जो आंशिक रूप में भी सफल है वह साधक है, पाँच इन्द्रियों के विषयों में जो अपने मन को अनुशासित रखता है वह संयमी है। किसी भी अंश में हो क्योंकि वह राव रहा है अपने आप को वह नचाये नाच नहीं रहा है। हर समय आत्मा नाच रहा है। कभी जिह्वा नचा रहा है कभी घ्राणेन्द्रिय नचा रही है।

हम कहते हैं इन्द्रियां नचा रही है। नाना कहते हैं—इन्द्रियां कहां नचा रही हैं? इन्द्रियां नहीं नचा रही है। इन्द्रियां तो पुद्गल पिण्ड है। मन, वचन काया के योग तो पौद्गलिक व्यवस्थाएं हैं। प्रेरक तत्त्व तो आत्मा है। यदि आत्मा प्रेरक तत्त्व न हो तो कौन नचायेगा? मोटर में पेट्रोल भी है चलने की शक्ति भी है किन्तु जब तक ड्राइवर नहीं होगा मोटर चलायेगा कौन? होय न चेतन प्रेरणा कौन ग्रहे ते कर्म? यदि चेतन की प्रेरणा न हो यदि मेरा हांकने का मन न हो तो हांकेगा कौन? यदि देखने का मन न हो तो देखेगा कौन? देख कर भी नहीं देखते। कोई शत्रु सामने आ जाए आँखें देख रही हैं पर मन में देखने

के भाव नही है तो आँखे क्या करेगी? कानो मे सुनने की शक्ति है, पर हमारे सुनने के भाव ही न हो तो कान क्या करेगे। जिह्वा इन्द्रिय तो है, किन्तु हमारा रस लेने का भाव ही नही है, तो वह क्या करेगी? क्या करेगी वह? खाने के पदार्थ तो पडे है, पर हमारा खाने का भाव ही नही है तो पदार्थ हमारा क्या करेगे? उपवास का पचक्खान जिस रोज ले ले, घर मे खाने के पदार्थ तो बहुत पडे होते है (पदार्थ कोई घर से बाहर थोडे ही चले जाते है) पर खाने का मन नही होता तो पदार्थ क्या करते है? कुछ भी नही करते; क्योकि हमने उस रोज खाद्य पदार्थो से मन को तोड लिया है। पचक्खाण का अर्थ क्या है–'प्रतिज्ञा'। 'प्रतिज्ञा' का अर्थ क्या है–'सकल्प'। सकल्प का अर्थ क्या–'विकल्प मे न लाना'।

मनुष्य का मन दुर्बल है, निर्बल है। कभी पदार्थो के आकर्षण से मन बदलता है, तो कभी परिचय के आग्रह से मन बदलता है। बदलते हुए मन को संभालने के लिए ही तो सकल्प है।

बहुत से लोग प्रत्याख्यान शब्द से चिढते है। बहुत से लोग प्रत्याख्यान इसलिए नही लेते कि अपने-आपको कमजोर क्यो मानें? यदि हमे मानना है तो हम स्वय ही मान जाएँ। हमे त्याग करना है तो हम ही कर देंगे। हमे त्याग करना है तो हम कर ही देगे। किसी के हाथ जोड कर क्यो सकल्प करें? मैंने कहा ऐसा आपका मन है तो बहुत अच्छी बात है। यदि आपको विश्वास है अपने मन पर इतना विश्वास है कि जिन्दगी मे मेरा मन कभी नही बदल सकता। ऐसी ताकत यदि आपकी है तो कोई जरूरत ही नही वह तो पचक्खाण ही है। पर ऐसी बात करने वालो का भी मन बदलते देखा है मैने। नैतिकता की बात व्यक्ति वही तक करता है जहाँ तक उसे कही प्रलोभन न मिले। शादी मे दहेज लेना अच्छा नही है किन्तु व्यक्ति वही तक सोचता है जब तक उसे दहेज देने वाला कोई न मिले। मुझे गलत ढग से नही कमाना है व्यक्ति तब तक सोचता है जब तक उसे कोई गलत ढग से फायदे का चान्स न आ जाए। यदि ऐसे मन बदल जाना हो तो ससार मे जितने लोग धर्मी कहलाने वाले हैं जो सैद्धान्तिक चर्चा करने वाले है सूत्र-स्वाध्याय करने वाले है स्थानक और मन्दिर मे आ कर आये दिन बैठने वाले है फिर तो वे सब धर्मात्मा हो जाते है। फिर तो दुनिया को इतना विश्वास हो जाता है कि यह व्यक्ति कभी गलत नही हो सकता। पर यह मनुष्य का मन है। कितना बदलता है कितनी बार बदलता है कैसे बदलता है, कब बदलता है, वही जानता है जो इसको बदलना चाहता है। बदलते हुए मन को भी वही जानता है जो अपने मन को बदलना चाहता है। जो मन को बदलना चाहता है वह बदलते हुए मन को जान कर भी नही जानता है। मन तो बदलता ही है

कपिल को यह मालूम था कि राजा, प्रातःकाल जो आशीर्वाद सबसे पहले जाकर देता है, उसी को दो मासा सोना देते हैं। पत्नी ने कहा कि इतने परेशान क्या हो, इतने हैरान क्या हो? तुम्हारी गरीबी दूर करने के लिए दरिद्रता दूर करने के लिए तुम जाओ, राजा को आशीर्वाद दो सब से पहले। उसके लिए मंगल कामना करो। तुम्हें दो मासे सोना मिल जाएगा। उस सोने के लाभ से कि मुझ से पहले कोई और आशीर्वाद देने न पहुँच जाए उसकी निद्रा हराम हो गया। नींद ही नहीं लगी। तीव्र आसक्ति के क्षणों में व्यक्ति निद्रा नहीं ले सकता। कई लोग कहते हैं कि ट्रेन तीन बजे की है। दस बजे सोये पर नींद आयी नहीं। ऐसा लगता है कब तीन बज जाएँ कब तीन बज जाएँ, कब तीन बज जाएँ। कभी-कभी व्यक्ति सोचता है कि आज मुझे ट्रककाल पर बात करनी है। दो-तीन बजे ट्रककाल आने वाला है उसकी बारह बजे से ही नींद टूट गयी है। बार-बार टूट रहा है। कब आ जाए, कब आ जाए कब आ जाए। एक तो आसक्ति है जिससे परिचय है उससे बात करने की। एक आसक्ति है व्यापार के भाव जानने की। एक आसक्ति है कि कहीं ट्रककाल आ जाए और चला जाए, वापस कब मिले, जो पैसे लगने हैं वे बेकार न लग जाएँ। जगता है, बार-बार जगता है। बार-बार नींद टूटती है। इतनी जल्दी उसकी नींद टूटती है, तोड़ना नहीं पड़ती। तीव्र विकल्पों में नींद नहीं आती। चाहे कम भी हो, अधिक नींद लेने वाला अधिक कार्य नहीं करते। बल्कि ज्यादा कार्य करने वाला बहुत कम सोता है, क्योंकि कार्य-क्षेत्र उसके लगन के ही रहते तीव्रता होने से उन्हें निद्रा गहरी लम्बे समय तक की नहीं आती। वहाँ प्रलोभन था, लाभ था, कि मेरे से पहले कोई और आशीर्वाद न दे दे। और मेरे से पहले कोई स्तुति-पाठ राजा के समक्ष न कर दे इसलिए अर्द्धनिद्रा में ही अर्द्धरात्रि में ही वह रवाना हो गया। वह बहुत जल्दी चला गया। पहरेदार ने पकड़ लिया। कहाँ आ गये? तुम कौन हो? इस रात्रि में क्या आये? उसे बैठा लिया। सबेरे राजा से कहा कि ऐसा-ऐसा एक व्यक्ति आया है। एक चोर पकड़ा है। राजा ने कहा—उसे मेरे सामने लाओ। देखा उसकी प्रकृति से, उसकी घबराहट से, उसके शब्दों की सरलता से राजा ने सोचा यह चोर है पर प्रकृति से चोर नहीं है परिस्थिति से चोर हो सकता है। राजा ने पूछा—कहो क्या बात है? तुम इतनी जल्दी किसलिए आये। स्वामिन, मेरे मन में और तो कोई भाव नहीं थे, मेरी पत्नी ने कहा था कि राजा साहब को जो पहली बार आशीर्वाद देता है उसे दो मासे सोना मिलता है। इसी दो मासे सोने को लेने की कल्पना से दौड़ा। मुझे रात्रि में भी रात्रि महसूस नहीं हुई। तीव्र लगन थी इसलिए सोचा सूर्योदय होने ही वाला होगा। अभी पाँच बजे के समय में भी देखो तो ऐसा ही लगता है कि खूब रात है। और कोई कारण

नही है। वस इतना ही प्रयोजन था। मै तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम जितना चाहो उतना सोना मुझ से ले लो। मुझ से ले लो जितना चाहो उतना। मैं थोडी देर विचार करके आता हूँ। विचार करके आता हूँ, कह कर वह वैठ गया कही एकान्त मे। और विचार कर रहा है। ओ हो राजा, राजा दे रहा है। राजा का आशीर्वाद। राजा खुश हो गया। दो मासे से तो दो दिन भी नही निकलेगे, तो क्या दस मासे माँगू ? ओर, राजा दे रहा है तो फिर माँगने मे कजूमी किस वात की वीस मासे, तीस मासे, पचास मासे, सौ मासे। विचार वदलते ही जा रहे हैं। क्षण-क्षण मे मन वदल रहा है। घर से मात्र अर्द्धरात्रि मे दो मासे सोना लेने निकला है। वठ-वैठ विचार करता जा रहा है। लहरें आती जा रही हैं। लहरो मे लोभ-भाव टपकता जा रहा है। वह लोभ-भाव वढते-वढते इतना वढ गया कि उसने सोचा कि राजा मान गया तो कमी किस वात की। मैं माँगू, माँगू। इतना माँगू कि कम-से-कम मेरी जिन्दगी तो सुख-शान्ति से निकल जाए। सोच रहा है कि मै तो एक करोड मासे माँगू। वदलते-वदलते मन कितना वदला। फिर भी सोच रहा है कि एक जिन्दगी निकलेगी, दो जिन्दगियाँ निकलेगी तो फिर मेरे वेटे-पोतो का क्या होगा ? जव माँग रहा हूँ तो इससे ज्यादा ही माँगू। जहाँ लाहो तहाँ लोहो, लाहो लोहोप गड्डई। लाभ के क्षणो मे लोभ वढता है। जैसे-जैसे लाभ वढेगा वैसे-वैसे लोभ वढेगा। व्यक्ति यदि 'है' मे सन्तोप कर ले तो अशान्ति का प्रश्न ही कहाँ है ? हर परिस्थिति मे यदि 'है' मे सन्तोप कर ले तो अशान्ति का प्रश्न ही नही है, किन्तु आकर्षण सदा 'चाहिये' मे है, 'है' मे नही। भाग्य और पुरुषार्थ के योग से यदि 'चाहिये' 'है' मे भी आ गया तो भी 'चाहिये' ज्यो-का-त्यो फिर आगे जा कर खिसक गया। जीवन मे कितनी वार 'चाहिये' 'है' मे वदला होगा।

आज से वीस वर्ष पहले सोचा होगा कि मुझे पाँच सौ रुपये महीना चाहिये। फिर सोचा होगा मुझे हजार रुपये महीना चाहिये। फिर सोचा होगा कि मुझे किराये के चार अच्छे कमरे चाहिये। फिर सोचा होगा कि मुझे तीन खण्ड का मकान चाहिये। फिर सोचा होगा कि मुझे वगला चाहिये। अजी 'है' कितनी वार 'चाहिये' वन गया। जिन्दगी मे कितनी वार 'चाहिये' 'है' वन गया। मुझे अमेरिकन साडी चाहिये। वह भी 'है' मे आ गयी। अव दूसरी चाहिये। दस आ गयी तो वीस चाहिये। मुझे सोने का सेट चाहिये। वह भी 'है' मे आ गया। 'है', पर 'है' मे सन्तोष नही। अव मीने का चाहिये। फिर मीने का वन गया। तो फिर 'चाहिये' शव्द 'है' मे चला गया। यह मनुष्य का मन है, कितनी जल्दी वदलता है, कितनी वार वदलता है। इस मन पर जो नियन्त्रण करता है, वही सयमी है। वदलते हुए मन पर जो ज्ञान से अकुश, वैराग्य से अकुश, नियम से

अंकुश लगाता है वही तो संयमी है। थोड़ा देर बाद उसने सोचा अपने बदलते हुए मन को देखा। उसने देखा। ओ हो, मेरा मोह। एकदम चढ़ता चढ़ता वापिस उतर गया। उतर कर सोचने लगा केवल दो मासे सोने के प्रयोजन से मैं इतनी अर्द्धरात्रि में ही दौड़ कर आया और राजा ने जैसे ही मुझे आशीर्वाद दिया वैसे ही मेरा मन इतना बदलता गया इतना बदलता गया और करोड़ मासा मांगने के क्षणों में भी तृष्णा शान्त नहीं हुई? आगे मन कह रहा है कि आधा राज्य ही क्या न ले लूं? राजा ही दे रहा है तो आधा राज्य क्या न ले लूं? आधा राज्य लेने में भी राजा तो बहुत उदार है किन्तु आगे वहां बैठा गद्दीदार हाशियार आ जाएगा। तो संघर्ष होगा इसलिए पूरा ही क्या न मांगू?

यह स्थिति है हमारे मन की। कपिल को कपिल के मन को सुनने के लिए नहीं सुनना है अपने मन की थाह लेने के लिए सुनना है। अपने मन को नापना है। अपनी इच्छाओं को देखना है। व्रत और पच्चखाण नियम लिये बिना मन कैसे अनुशासित होगा? कहां त्याग के भाव आयेंगे? कहां परिग्रह-परिमाण होगा? संयम में आने के भाव ही नहीं हैं क्योंकि मन की उछल-कूद है। मन की उछल-कूद क्या है? क्योंकि उसने स्वयं पर अनुशासन नहीं किया। स्वयं पर अनुशासन क्या नहीं किया कि शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है ऐसा उसने नहीं जाना। भौतिक पदार्थों के प्रति जो उसका आकर्षण है जो उसका ममत्व है वह ममत्व किसी क्षण उससे छूटता नहीं है। अनन्तकाल की यात्रा इस जीव ने इसी प्रकार असंख्य बार की है। अनन्त पदार्थों को अनन्त सम्पदा को इसी तरह छोड़ा है। श्रीमद् राजचन्द्र ने एक वाक्य तो अजब-गजब का दिया है—अहो! इस संसार को नमस्कार है। जिस आत्मा को हजारों बार मां के रूप में स्वीकार किया उसी आत्मा को आज मैं पत्नी के रूप में स्वीकार कर रहा हूँ!! वैराग्य का इससे बढ़ा और क्या कारण होगा? क्योंकि संसार में हम अनन्त काल से हैं। अनन्त आत्माएँ भी इसी संसार में हैं। घूम कर कहां जायेंगे? जा कर कहां जाओगे? मिल कर किन से मिलेंगे। एक इन्दौर में रहने वाला। इन्दौर की किसी भी गली में घूमे आखिर मिल कर उन्हीं से मिलेगा जो बार-बार मिलते हैं। चार गति में घूम कर भी उन्हीं से मिलेगा। श्रीमद्राजचन्द्र ने कहा है यदि वैराग्य न आता हो यदि अपना मन विषय विकारों से नहीं हटता हो तो त्वचा विनानी वनितानो स्वरूप विचारजे। क्या वाक्य दिया है? मोक्षार्थियों के लिए। यह तो अध्यात्म सभा है भाई अध्यात्म-सभा में अध्यात्म की दृष्टि से बात होगी। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा कि यदि अपने मन में अंकुश लाने के भाव नहीं आते हों, अपने मन को बदलने के भाव नहीं आते हों स्पर्श इन्द्रिय रस इन्द्रिय घ्राण और चक्षु इन्द्रिय का स्वाद कम न होता हो और ब्रह्मचर्य-जीवन में अपने मन को दृढ़ करने के भाव

न आते हो तो वनिता नो विचार करजे। त्वचा वगरनी वनिता नो स्वरूप विचारजे' चमडी हटने के वाद फिर कितना मोह होगा? फिर वह कलेवर कैसा लगेगा? फिर वह मास का लोदा कैसा दीखेगा, कव? जव चमडी की चादर हट जाएगी। यदि अपना मन ऐसे अकुश मे ना आये तो श्रीमद्राजचन्द्र ने यह कहा कि तुम शरीर के वास्तविक स्वरूप का विचार करना और वास्तविक स्वरूप विचार इस रूप मे करना कि चमडी हट जाए और मात्र अन्दर का कलेवर रह जाए।

जगल मे देखा होगा—किसी गाय, भैस, वैल को देखा होगा। हम पदयात्री होने के नाते अनेक वार देखते हे कि कोई जानवर गाय, वैल मर जाता है और जव खीच कर उसको जगल मे फेक दिया जाता है, आये दिन चील, कौए आदि इन पर चोच लगा-लगा कर चमडी को जव अलग कर देते हे, मात्र मास का पिण्ड वह रह जाता है। उसे देख कर कै आती है, दुर्गन्ध आती हे, घृणा के भाव आते हे। अपने मन को वदलने के लिए, विषयो से मन को हटाने के लिए श्रीमद्राजचन्द्र ने कहा—शरीर के स्वरूप का विचार करना, पर शरीर के स्वरूप का विचार करेगा कौन? जो आत्मस्वरूप को समझेगा। मैं आत्मा हूँ। मैं सदा था। सदा रहूँगा। यह मेरे सारे सम्वन्ध, भोग के सम्वन्ध है। रागात्मक सम्वन्ध है। इनमे मोह का विष है। उस मोह के विष को यदि व्यक्ति छोड दे तो वन्धन का कोई कारण नही है। आप, मेरे वन्धन का कारण नही। मैं, आपके वन्धन का कारण नही। यदि राग और द्वेष के परिणाम मे दो मे एक भी न हो तो। किसी और को नही समझाना है। अपने-आप को समझाना है। इसी जीव को समझाना है। मैं आपको समझाने के लिए नही कह रही हूँ, मुझे भी समझना है। जिसको समझना है, उसी की चर्चा, उसी का चिन्तन, उसी की लगन है कि वडे व्यापारी से मिलना है, मिलो से सम्पर्क करना है, ट्रंककॉल करना है, माल खरीदना है, माल वेचना है, माल वनवाना है। जिसे जो कमाना है, वह उसी की चर्चा करेगा। व्यापारी से वात करेगा। मैंने किसी से पूछा कि आप उन्हे जानते है क्या जो सोने-चाँदी के व्यापारी है? उसने कहा—महाराज हूँ नही। मेरा सम्वन्ध तो कपडे के व्यापारियो से है, क्योकि मैं कपडे का व्यापारी हूँ। आप दाल मिल वाले है तो दाल की मिलो के जो व्यापारी है, उनसे, सम्वन्ध होगा। कौन खरीदेगा, कौन वेचेगा? कहाँ से माल आयेगा, कहाँ माल जाएगा। उनसे सम्वन्ध है। इन्दौर मे व्यापारी तो हजारो है, उनसे आपका प्रयोजन नही है, उनसे कोई प्रयोजन नही है।

वैसे ही हमे जव आत्मशुद्धि करनी है, आत्मतत्त्व को समझना है तो आत्मा की ही चर्चा, आत्मा की ही सारी वात, आत्मा से सवन्धित हो सारा प्रयोजन। 'सयम'—सम्यक् मन की स्वीकृति सयम है। हम त्याग और वैराग्य से अपनी आत्मा को जोडे। कैसे जोडेगे? सासारिक मोह को तोड कर। सासारिक मोह जव तक

टूटेगा नहीं, तब तक वह जुड़ नहीं सकता। हो सकता है कोई कहे कि तोड़ने से होगा क्या? वह टूटेगा तभी सही माना जाएगा। एक भूमिका यह भी है। हर प्रारंभिक स्थिति में आज तक ऐसा हुआ नहीं। मन जिसने साधा है उसी का मन सधा है। मन बदलने का जिसने प्रयत्न किया है, मन उसी का बदला है। स्कूल में जाने वाला बच्चा गया उसी दिन नहीं अक्षर लिख ने बहुत मुश्किल है। एक वर्ष तक तो उसने शाला मन्दिर में केवल अक्षरों को पहिचानने की कोशिश की है। उन्हें बनाने की कोशिश की है। चार छह महीने तक तो उसको अ आ, क ई भी लिखना नहीं आता है। पर क्या उसका परिश्रम बेकार है? नहीं। मन साधने के लिए ही मन को बदलना है। मन को बदलने के लिए ही संयम में आना है। संयम में आने के लिए ही संकल्प करना है। नहीं तो मन बदलता ही रहेगा। कितने ऐसे लोग हैं जिनसे मैं मिलता हूँ, पचास-साठ वर्ष की उम्र में भी वे संसारी जीवन जी रहे हैं। गृहस्थ जीवन में रह कर वानप्रस्थ आश्रम नहीं आ रहा। साधु बनने की स्थिति है नहीं। साधु बनने के भाव हैं नहीं। कोई बात नहीं। पर गृहस्थ में रह कर तो वानप्रस्थ आश्रम आ जाना चाहिये। गृहस्थ में रह कर तो संयोग-सम्बन्धों का मोह कम हो जाना चाहिये। गृहस्थ जीवन में रहते हुए व्यक्ति की जो मोह दृष्टि है वह तो कम होनी चाहिये। क्या नहीं हुई? मन को बदलने का प्रयत्न ही नहीं किया।

जिसने जिन्दगी भर मन को बदलने का प्रयत्न नहीं किया वह अन्त समय में मन को बदल ने बहुत मुश्किल है। बहुत मुश्किल है। वह बात कर सकता है बदल नहीं सकता। बदलेगा वही जो सम्भलेगा। सम्भलेगा वही जो अपने मन को अंकुश में लेगा। अंकुश में लेने के क्षणों में प्रारम्भ में मन रो सकता है, रोय, चिल्लाय। मन नियन्त्रण पसन्द नहीं करता क्योंकि मन की आदत पड़ गया है। यह बच्चा घर चुपचाप बैठना पसन्द करेगा जो पूरे दिन सड़कों पर दौड़ता रहा है। जो पूरे दिन खेलता रहा है। जिस बच्चे को गाँव में छोड़ दिया सवेरे से शाम तक बच्चों के साथ खेल रहा है और उस एकदम घर बन्द करने की बात करो तो उसे अच्छी बात लगेगी? पहले उसका खेलना कम करना पड़ेगा। बच्चों का साथ कम कराना पड़ेगा। बार-बार घर बनाना पड़ेगा। तब उसकी आदत छूटेगा। ऐसे एकदम नहीं छूटेगा। पहले मन नहीं लगेगा। पहले मन्द होगा। मन्द करने का प्रयत्न ही संकल्प है। मन्द करने का प्रयत्न ही पच्चक्खाण है। मन्द करने के लिए ही अपने मन को बार-बार बदलने की कोशिश करता है। संयम है—सम्यक मन की स्वीकृति क्रोध के क्षणों में क्रोध के भावों को जो बदलने की कोशिश नहीं करेगा जिन्दगी भर उसका क्रोध कम नहीं होगा। यह जरूर हो सकता है कि क्रोध की ताकत नहीं होगी। उसके क्रोध की ताकत नहीं होगी बुढ़ापे में जवानी में तो

क्रोध की कीमत हो सकती है। कीमत का अर्थ यहाँ क्रोध का व्यवहार-पक्ष है। दस हजार, पाँच हजार, दो हजार रुपये महीना कमा कर परिवार को पालना है तो दुधारु गाय की लात खाने वाली बात होती है। क्रोध, क्रोध करायेगा। क्रोध का बन्धन भी होगा। दुर्गति, वह सब बात तो अलग है। पर व्यवहार मे भी साठ-सत्तर वर्ष की उम्र मे यदि आप क्रोध करे तो कुत्ते जितनी कीमत होगी, इससे ज्यादा, नही होगी। भौं-भों करते रहोगे। कहा जाएगा—आदत पड गयी है इनको तो। क्रोध की कीमत नही है। क्रोध कोई पसन्द नही करता है। क्रोध से आप अप्रिय बन रहे है। क्रोध से आप परिवार से टूट रहे है। प्रीति का नाश हो रहा है। सबन्ध शिथिल हो रहे है। सेवा की भावना परिवार मे नही रहती है। परिजन कहने लगते है कि उनसे तो जब भी पूछने जाओ तब जैसे कोई कुत्ता काटे, ऐसे काटते हैं, ऐसा बोलते है। मैने एक घर मे सुना। आहार के लिए गयी थी। किसी बहिन ने कहा—दादा साहब से पूछ कर आओ। मैं पूछने नही जाऊँगी। वे तो जब जाओ तब लड कर बोलते है।

कहने का तात्पर्य यह कि आप स्वय महसूस करते है कि मेरे क्रोध की कोई कीमत नही है। फिर भी वृद्धावस्था मे क्रोध कम नही होता, क्रोध कम करने की कोशिश नही की जिन्दगी मे। क्रोध व्यवहार-पक्ष मे व्यक्ति को असफल बनाता है। परिवार मे उसकी प्रीति भी टूटती है। मित्रताएँ भी छूटती है। सब कुछ होता है, किन्तु क्रोध वही छोड पाता है, जिसने छोडने का व्रत लिया है। वस्तुत. अपने मन को वही बदल सकता है, जिसने उसे बदलने का अभ्यास किया है। □□

तप का स्वरूप समझें

तप आत्म शुद्धि में प्रमुख है। तप के भाव से होने वाला त्याग ही तप है। डॉक्टर के कहने से स्वास्थ्य लाभ के लिए घी, शक्कर और नमक छोड़ने वाले कम-कम। वह कहते हैं मेरे घी का त्याग है, मेरे शक्कर का त्याग है मेरे नमक का त्याग है। सुनने वाले त्याग करने वाले उसके त्याग का अनुमोदन करते हैं किन्तु यह अनुमोदन व शब्द सुन कर भी वह अपने रहस्य को नहीं खोलता अपने त्याग का कारण नहीं बताता। उसे स्पष्ट कहना चाहिए कि मेरे त्याग है पर त्याग भाव से नहीं वह तो मात्र शरीर लाभ के लिए है अतः इसमें त्याग के भाव नहीं हैं तो अनमोदन का सवाल ही नहीं। यदि इस प्रकार वह अपने त्याग के प्रयोजन को स्पष्ट नहीं करता तो छल है उसके भावों में मिथ्या प्रशंसा के भाव हैं जिन्हें मान, पापभाव कहते हैं किन्तु व्यक्ति सोचता है कि मैं तप-साधना अपने बचपन के जीवन में कभी कर लूंगा, आखिर कब? जब यह इमारत ढीली पड़ जाएगी तब? हाड़ हिलने लगेंगे तब? साठ वर्ष का हो कर सम्यग्ज्ञान लगेगा तब? पन्द्रह वर्ष तक यह जीव नादान रहता है अतः कर नहीं कर पाता और जब समझ आती है तब भविष्य मानी बुढ़ापे पर छोड़ देता है। अतः तन बदन इससे पूर्व हम अपने मन को विवेक ज्ञान और वैराग्य से रंगना चाहिए तभी हमारा जीवन सफल होगा तभी सत्संग में आना सार्थक कहलायेगा।

—इन्दौर ५ जुलाई १९८२

संसार, परिवार, दिनचर्या/सभी प्रयोगशालाएँ

यदि जिस का आत्म कल्याण करना है तो उसके लिए यह संसार, कुटुम्ब स्वयं की दिनचर्या महत्त्वपूर्ण प्रयोगशालाएँ हैं। इन प्रयोगशालाओं में आत्म निरीक्षण करना होगा स्वयं का परिष्कार होगा। क्योंकि यहीं जीवन में यहीं विषमता, वैविध्य और विभिन्नता अवश्य है। कभी स्वास्थ्य की विषमता है कभी शरीर की परेशानी है कभी कुटुम्ब-कबीले की समस्या है कभी धन की समस्या है तो कभी

कोई सामाजिक मुश्किल है। परिस्थितियो का कोई छोर मिले यह मुश्किल है; परिस्थिति बदलने के लिए भाग्य और पुरुषार्थ चाहिये। पुरुषार्थ से भी यह आवश्यक नही है कि परिस्थिति बदल ही जाए। दूसरो के, मन और रुख को हम अपने अनुसार ढाल लें यह भी मुश्किल है। हम प्राय दूसरो को परिस्थितियो को बदलने का प्रयत्न करते है और जब इस तरह का परिवर्तन संभव नही होता है तब अशान्त हो जाते हैं। यहाँ मैं यह नही कह रहा हूँ कि हम पुरुषार्थ न करें, परिस्थिति को दास न बनाये, साधनो को न अपनाये बल्कि कह रहा हूँ कि जो भी करे शान्त भाव से करे, वस्तु-स्वरूप का ध्यान रख कर करे।"

–इन्दौर ८ जुलाई १९८२

सत्य को जीवन में उतारें

"हमे विषम भाव मे रहते हुए अनन्त काल हो गया है। जब तक हम इस विषम भाव को समभाव मे बदलने का प्रयत्न नही करेगे, तब तक तीन काल/तीन लोक मे भी उसे प्राप्त नही कर सकेगे। वास्तव मे समभाव के बिना मुक्ति नही है। मुक्ति के लिए हमे सविवेक प्रयास करना होगा। हम महापुरुषो की जय-जयकार बहुत करते हैं, उन्हे धन्य-धन्य भी बहुत करते/कहते है, उन्हे नमस्कार कर प्रसन्न होते है, किन्तु केवल प्रशस्ति से न तो हम धन्य ही होगे और न ही महान्। सत्य को जीवन मे उतार कर ही हम धन्य हो सकते है।"

–इन्दौर ८ जुलाई १९८२

शरीर में आत्मबुद्धि छोड़ें

"नशा तो नशा है, फिर वह किसी का भी हो। जीव को शरीर मे आत्म-बुद्धि का नशा चढा हुआ है। उसका यह मद अनादिकाल मे नही उतरा है, यदि उतर जाता तो उसके विचार ही बदल जाते, भाव ही बदल जाते। तब ससार मे रह कर भी उसे ससार का आकर्षण नही रहता। वह मकान को मकान, और मालिक को मालिक मानता। ···हम अपना मुखडा दर्पण मे देख कर मुस्कराते हैं, लेकिन हमे यह प्रतीति नही होती कि हम अरूपी, शाश्वत, अजन्मा, सद्चिदानन्दघन आत्मद्रव्य हैं, हममे रूप, रस, गध, वर्ण आदि कहाँ है? यह तो मात्र नामकर्म प्रकृति की व्यवस्था है।"

–इन्दौर १० जुलाई १९८२

पिंजरा आखिर पिंजरा है

"हमने पुण्य को धर्म माना और उसी मे अटक गये, उसी को सर्वस्व मान बठे, उसी को सवर-निर्जरा कह बैठे, पर वह सवर नही है, पुण्य है, हाँ, पाप का संवर वहाँ है अर्थात् पाप की अपेक्षा सवर है; परन्तु शुद्धत्व की अपेक्षा तो वह भी

आस्रव ही है। बेड़ी तो बेड़ा है फिर वह सोने की हो या लोहे की। तोते के लिए पिंजरा पिंजरा है फिर चाहे वह रत्नजड़ित हो क्या न हो?"

—इन्दौर १२ जुलाई १९८२

शरीर एक विश्वविद्यालय

हमें जो काया मिली है, वह स्वयं में एक बहुत बड़ा यन्त्र है हम चाहें तो इसे एक यूनिवर्सिटी भी कह सकते हैं। कितने विभाग होते हैं विश्वविद्यालय में — हिन्दी, अंग्रेजी, दर्शन, रसायन भौतिकी, प्राणिकी आदि। सब जुदा-जुदा हैं। ठीक ऐसे ही विभाग हैं देह में—दर्शन, स्वाद स्पर्शन श्रवण, गंध। पांच इन्द्रियाँ पांच विषय। इन पाँच इन्द्रियों का जो ज्ञाता है वही है गुरु। इन्द्रियां तो माध्यम हैं, झरोखा हैं किन्तु इनमें से झांकने वाला कौन है? झरोखा स्वयं नहीं देखता, खिड़कियां खुद नहीं देखती—उनमें से देखा जाता है कोई उनमें से देखता है। बाजार किसे दिखायी देता है? उसे जो खिड़की में से देखता है। खिड़की माध्यम है। बल्ब में से प्रकाश आता है किन्तु बल्ब प्रकाश नहीं है वह माध्यम है इसी प्रकार बटन (स्विच) है जब तक वह बिजलीघर से जुड़ा है, तब तक जीवित है, अन्यथा हम उसे एक सौ आठ बार भी दबायेंगे तो भी कुछ होगा नहीं क्या नहीं होगा? कारण साफ है, बिजलीघर से उसका सम्बन्ध कट गया है। इसी तरह इन्द्रियां सक्रिय हैं कब तक? जब तक इसका आत्मा से सम्बन्ध है। आत्मा निकल जाने के बाद देह मात्र देह है श्मशान की धरोहर, उसके बाद तो यह मिट्टी में मिलने को ही है।'

—इन्दौर १८ जुलाई १९८२

सम्यक्त्व से साक्षात्कार

'अस्थिर, चपल उछलते पानी में कभी चेहरा साफ नहीं दिखायी देता। वहां लहरें हैं कम्पन हैं जिनमें चेहरा बन कर बिखर जाता है, वह दिखायी नहीं देता। ऐसी तरह कषाय की लहरों में, विषय-वासना की लहरों में मलिनता की लहरों में उत्प्लावित व्यक्ति सम्यक्त्व से दूर रहता है। सम्यक्त्व-सम्मुख जीव चित्त को बाह्य पदार्थों से दूर रखता है। यह वृत्ति संसारी प्राणियों में भी देखी जाती है। उनमें इकतरफा पुरुषार्थ जागृत हो जाता है। जैसे किसी छात्र को परीक्षा देनी है बहिन की शादी भी उन्हीं दिनों है घर में मनोरंजन/आनन्द-उल्लास का वातावरण है सभी इस समारोह में सम्मिलित हैं वह किन्तु शामिल हो कर भी तटस्थ है। वह इम्तहान की तैयारी के लिए किसी मित्र के पास चला जाता है और दत्तचित्त पढ़ता है। यद्यपि उसके घर का प्रसंग उसके मन को खींच सकता है पर उसका लक्ष्य परीक्षा में अच्छे अंक प्राप्त करने का है। यदि वह परीक्षा प्रथम

श्रेणी मे उत्तीर्ण करना चाहता है, और बहिन की शादी मे भी पूरी तरह सम्मिलित होना चाहता है तो ये दोनो काम एक साथ उसके लिए सभव नही हैं। ऐसे ही यदि कोई चाहे कि एक साथ, विषय-वासना मे भी लिप्त रहे और आत्मज्ञान भी प्राप्त कर ले तो ऐसा न कभी हुआ है, और न होगा। एक म्यान मे दो तलवारें कैसे समा पायेंगी ?"

—इन्दौर २३ जुलाई १९८२

स्वाधीनता : हमारा लक्ष्य

"हमारा लक्ष्य क्या है ? आत्म स्वाधीनता। जिस दिन हमारी आत्मा कर्म-सयोग से मुक्त हो जाएगी, हमारा स्वतन्त्रता/स्वाधीनता-दिवस तभी होगा। जब जो जीव मोक्ष गया तब वह दिन उसके लिए स्वाधीनता-दिन हुआ। मोक्ष-दिवस यानी स्वतन्त्रता-दिवस। भगवान् महावीर का स्वाधीनता-दिन है—कार्तिक वदी अमावस्या। उस दिन वे कर्मसत्ता से मुक्त हुए, अब सादि अनन्तकाल तक षड्द्रव्य-व्यवस्था होने पर भी वे समस्त प्रभावो से मुक्त अपने शुद्ध स्वरूप मे रमण करते रहेगे। ऐसा शुभ दिन हमारे लिए कब आयेगा ?"

—इन्दौर : १५ अगस्त १९८२

जीवन-निर्माण /जीवन-निर्वाह

"सोचने पर लगता है हमारे मन-मस्तिष्क अन्धानुकरण मे लग गये हैं। प्रश्न यह है कि जिसे जीवन बनाना है, उसे जीवन-निर्वाह के समय मे कटौती करनी होगी। जो जीवन-निर्वाह के समय मे कटौती करेगा, उसके साधन भी घटेगे। उसे स्वाद का मोह कम करना होगा, सामान्य खाद्य सामग्री से सन्तुष्ट होना होगा। किन्तु मुझे लगता है मनुष्य के पास समय की कोई कमी नही है, उसका कोई मूल्य नहीं है। वह मनुष्य-जीवन का मूल्य, उसकी महत्ता शायद समझ नही पा रहा है, इसीलिए वह चाय-नाश्ते, गपशप जैसे महत्त्वहीन कामो मे अपना वक्त गँवाता है, किन्तु इसके विपरीत कोई ज्ञानी, स्वाध्यायी व्यक्ति, कोई आत्मचिन्तक, साधनावान् व्यक्ति मनुष्य-जन्म का मूल्य समझता है और अपना जीवन सार्थक करने का प्रयत्न करता है। वह अपने समय का समुचित/सतुलित विभाजन करता है और जीवन-निर्वाह के क्षणो मे से आत्मसाधना के लिए समय निकालता है। जो जीवन का अर्थ जानते है, उसकी वर्णमाला जानते है, वे ही उसे सार्थक कर सकते है।"

—इन्दौर १८ अक्टूबर १९८१

आवश्यकता है पुरुषार्थ की

"जैन दर्शन, आध्यात्मिक साहित्य उस सुख को सुख नही मानते, जो पराव-लम्बी या क्षण-भगुर है। वह कालजयी सुख को ही सुख कहते है। सहजानन्द तो स्वय मे है,

वह कहीं बाहर से आने वाला आनन्द नहीं है। जो आनन्द भीतर में है वह हम में है। आवश्यकता है प्रयत्न की, पुरुषार्थ की, उस आनन्द के अनुसंधान की।

शरीर भिन्न, आत्मा भिन्न

'जहाँ जब हमारे स्वार्थ को आँच आती है हमारी मित्रता के भाव काफूर हो जाते हैं। हमारे स्वार्थ के बाधित होते ही हमारे दोस्त दुश्मनों में बदल जाते हैं। हमारी आत्मीयता तभी तक टिकती है जब तक हमारा स्वार्थ सधता है। हमारे के सारे नाते रिश्ते स्वार्थ की भित्ति पर टिके हुए हैं। कारण है हमारी देहात्म-बुद्धि जो शरीर और उससे सम्बद्ध व्यक्तियों से परे नहीं हम अटकाये रखते हैं। आज आत्मा की पहिचान के लिए मनुष्य के पास समय ही नहीं है किन्तु जिन सन्तों ने शरीर और आत्मा के भेद को भलीभाँति समझ लिया है शरीर में उनकी ममत्व-बुद्धि का अन्त हो गया है। ममत्व-बुद्धि का अन्त मनुष्य में अध्यात्म के सवेरे का शुभारम्भ है। प्रत्येक जीव में अपने-सा आत्मा देखने से 'मेरे' का घेरा टूटता है और समाज से समत्व का नाता जुड़ता है। ममत्व और समत्व में फर्क है। समत्व मोक्ष की ओर ले जाता है और ममत्व बंध की ओर।

मकान सब बनाते हैं, किन्तु धर्मशाला ?

दान बहुत है दान में व्यक्ति को कभी सताप नहीं होना चाहिए। देते रहना चाहिए किन्तु यह मैंने दिया है ऐसा भाव कदापि नहीं आना चाहिये। हमारे पूर्वजों ने कितना दिया कितना खर्च किया? आबू के मन्दिर देखें जैसलमेर के मन्दिर देखें जितने तथ्य हैं उन्हें देखें हमारे पुरखों ने वहाँ इतना खर्च किया है जितना उन्होंने अपने शरीर पर खर्च नहीं किया। हम किन्दगी में क्षरते हो क्या हैं? मकान सब बनाते हैं किन्तु धर्मशाला बनाने वाले कितने हैं? यदि दस हजार रुपये खर्च के हमारे पास हैं तो एक हजार दूसरों की सुख-सुविधा पर खर्च करें ऐसे भाव क्यों नहीं जगते हैं? आयें ऐसी कोई रचनात्मक शान्ति हम करें तभी धन की सार्थकता और महत्ता है।'

आत्मीयता का विस्तार

पहला विचार क्या है क्या होना चाहिए? मित्ती मे सव्वभूएसु। सब प्राणियों के प्रति मित्रता की भावना। इस बात विचार अथवा-मन वचन काया के योग से किसी को कोई कष्ट न पहुँचे। हम सोचें आज हमारी स्थिति क्या है? सारे जगत् के जीवों के प्रति यदि हमारी आत्मीयता विस्तृत हो जाए तो फिर कहना ही क्या है? अभी तो वह एक गाँव एक परिवार एक मोहल्ले अथवा एक माँ के पेट से जन्मे भाइयों तक भी ठीक से विस्तृत नहीं है। यदि आज

किसी के प्रति हमारी आत्मीयता है तो वह स्वार्थ या मोह के कारण है। अब वह समय है जब हमें अपनी कसौटियो को बदल डालना चाहिये और आत्मीयता को पूरी उदारता के साथ विस्तृत कर लेना चाहिये।"

अवगुण में गुण

"प्रश्न उठ सकता है कि यदि कोई अवगुणी है तो उसमे गुण देखना कैसे सभव है? अवगुणी मे तो अवगुण ही होगे। यह हमारे कहने की व्यवस्था है, क्योकि हम वस्तु मे जिसकी अधिकता होती है, वही उसे कह देते हैं। जब किसी मे गुण अधिक होते है, तब उसे गुणी, और जब किसी में अवगुण अधिक होते हैं, तब उसे अवगुणी कह देते हे, लेकिन वास्तविकता अलग है, क्योकि गुणी मे भी अवगुण होते हैं और अवगुणी मे भी गुण। धत्तूरा होता काला है, पर सुगन्ध का गुण उसमे होता है, कोयल होती काली है, किन्तु उसका स्वर-माधुरी तो अपना अलग ही महत्त्व रखती है। गरज यह है कि हमे गुणी मे गुण तो देखना ही है अवगुणी मे भी गुण देखना है। गुण मे ही मुदित होना है, उदित होना हे।"

अन्तर्यात्रा का शुभारंभ

"यह निश्चित है कि अपना स्वरूप जाने बिना अन्तर्यात्रा का प्रारम्भ संभव नही है। इस अन्तर्यात्रा का सूत्रपात वस्तुत. तब होगा जब हम रुचिपूर्वक निज-स्वरूप की बात को सुनेंगे-समझेंगे। आत्माभिरुचि के जागृत होने पर आत्मार्थी को उतना ही आनन्द होता है जितना धन पा कर धनिक को। आत्मार्थी का धन आत्मकल्याण की चर्चा ही है। वह एकान्त मे बैठ कर बारबार आत्मकल्याणकारी तथ्यो का मनन करता है, तथा विषमता और प्रतिकूलता के क्षणो मे भी स्वय को सन्तुलित करने के प्रयत्न करता है।"

दीपक तो प्रतिक्षण बुझ रहा है

"वय तो क्षण-प्रति-क्षण नष्ट हो रही है। जिस तरह घट की एक-एक बूंद गिर कर उसे जल मे खाली कर देती है, वैसे ही उम्र का घट रीत जाता है। तैल जलते-जलते पूरा हो जाता है तो दीपक बुझ जाता है, ठीक इसी लय मे हमारा जीवन जा रहा है, जा रहा है वह, किन्तु ज्ञानी इस बहती धारा को भी पकड रहे हैं। यहाँ 'पकडने' का अर्थ मुट्ठी मे या अल्मारी मे बन्द कर लेना नही है वरन् उसका 'सदुपयोग' करना, उसे सार्थक करना। सन्त कहते हैं: अभी भी सावचेत हो जा। जो गया, सो गया, आगे संभाल।"

पुद्‌गल में पागल

"विजातीय तत्त्व के संयोग से जो आत्मभ्रांति है वही कर्मबंध का मूल कारण है। यह विजातीय तत्त्व क्या है? पुद्‌गल अजीव। अनन्त काल से यह जीव आत्मतत्त्व की बुद्धि न होने से पुद्‌गल के संयोग में राग-द्वेष रूप परिणमन करता है। जड जग को ले कर यह जीव क्रोध, मान माया, लोभ करता है। जड को पा कर हँसता है, जड को खो कर रोता है जड पर मोह करता है जड से द्वेष करता है। किसी भाषा पर मोह करता है किसी पर द्वेष। भाषा भी अन्तत पुद्‌गल वर्गणा ही है। उस पर रीझना भी पुद्‌गल पर राग करना है। किसी के सुन्दर सुडौल, सुघड शरीर को देखकर मुस्कराना उसकी प्रशंसा करना उस पर बहुमान के भाव आना पुद्‌गल के प्रति आकर्षण का परिचय ही है। यह सब क्या? इसलिए कि इस जीव ने अपने सम्यक स्वरूप को अब तक समझा नहीं है और यह बहुत बडी गलतफहमी में पडा रहा है।' □ □ □ □

"जब बरसात के दिनों मे नदी पूर आती है, तब वह किनारे का सारा कूडा-करकट बहा कर ले जाती है। हमारे अन्दर भी स्नेह की धारा सूख गयी है, जिससे हम मे निन्दा का, आलोचना का, द्वेष का, घृणा का, एक-दूसरे को पराया समझने का कचरा इकट्ठा हो गया है। आप प्रेम की ऐसी गंगा बहावे कि यह सब कचरा धुल जाए।"

—विचक्षण श्री